जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन

समालोचनार्थ

ग्रन्थकर्त्ता : श्रीचन्द्र जैन,
प्राचार्य सान्दीपनि महाविद्यालय, उज्जैन

साधुवाद : डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन'
उपकुलपति विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

भूमिका : डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

रोशनलाल जैन एण्ड सन्स
चैनसुखदास मार्ग, जयपुर-३

प्रकाशक : सुशील बोहरा
बोहरा प्रकाशन
चैनसुखदास मार्ग, जयपुर-३

प्रथम संस्करण : १९७१

मूल्य : तेरह रुपए

आवरण श्री प्रेमचन्द्र गोस्वामी

मुद्रक : स्वदेश प्रिंटर्स,
तेलीपाड़ा, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

समर्पण

श्रीमती सुशीला जैन एम. ए, बी. एड.

को

जिनका सतत सहयोग ही

मेरी साधना का संबल है

साधुवाद

जैन साहित्य के प्रसिद्ध विदग्ध विद्वान श्री श्रीचन्द्र जैन ने "जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन" नामक ग्रन्थ लिखकर भारतीय वांङ्मय में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा है। यह ग्रन्थ बड़े ही अध्यवसाय और सहृदय संवेद दृष्टि का परिणाम है। जैसे आदि बौद्ध ग्रन्थ पालि में लिखे गए वैसे ही प्राचीन जैन-ग्रन्थों की रचना प्राकृत में की गई। संस्कृत साहित्य में आदि-काव्य वाल्मीकीय रामायण को माना गया है और प्राकृत साहित्य में आदि-काव्य विमलसूरि कृत 'पउमचरियं' को माना जाता है। दोनों का कथानक भिन्न भले हो पर कथा का आधार एक ही है। रामायण के ही समान इसमें भी सात अधिकार हैं–स्थिति, वशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लवकुश उत्पत्ति, निर्वाण और अनेकभव। इस प्रकार किसी एक ही मानसरोवर से भारत की विभिन्न साधनाओं के स्रोत प्रसूत प्रतीत होते हैं। जैन साहित्य में प्रकीर्णकों और कथाओं की भरमार है जिनमें कलात्मक भावोन्मेष और धार्मिक उपदेशों का अद्भुत समन्वय हुआ है। यह कथा-परम्परा पहली शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप में पाई जाती है। उज्जैन निवासी कालकाचार्य की कथा से भलीभाँति परिचित हैं कि कैसे यहाँ के राजा गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य की बहिन जैन अर्जिका सरस्वती के साथ अत्याचार किया जिसके परिणामस्वरूप शकों का यहाँ आधिपत्य हुआ। कथाओं की यह परम्परा अपभ्रंश काल में उसी गति से प्रवहमान रही। हरिषेणकृत 'कथाकोष' तो सचमुच ही कथाओं का कोष है, जिसमें १५७ कथाएं हैं। इसमें चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी पाए जाते हैं। जैन-साहित्य के चरित्र-काव्य भी अद्वितीय हैं। अभी तक जितने हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे गए हैं उनकी सबसे बड़ी कमी यही रह गई है कि साहित्य की विभिन्न विधाओं के विकास में जैन-साहित्य के योगदान का आकलन ठीक प्रकार नहीं किया जा सका है। जिस दिन कोई सुधी प्रबंध-काव्य, नाटक, कहानी आदि के विकास में इस कड़ी को जोड़ लेगा उस दिन हिन्दी साहित्य सचमुच ही वैभवशाली हो उठेगा। जैन–साहित्य की बहुमूल्य देन से वंचित होकर हमारा साहित्य अभी वंचितों की श्रेणी में ही है।

श्री श्रीचन्द्र जैन ने न केवल जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है वरन् उसके पौराणिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य का तुलनात्मक आकलन भी किया है। एक ओर तो उन्होंने प्रकृति-चित्रण, लोकसंस्कृति और सूक्तियां आदि का विवेचन किया है और दूसरी ओर उनके धार्मिक परिवेश को सुरक्षित रखते हुए, सौन्दर्य बोध के सूक्ष्म तत्वों को भी उभारा है। लेखक की दृष्टि व्यापक, उदार और संवेदनशील है। ऐसे ही विद्वान साहित्य की साहित्यिकता को सुरक्षित रखते हैं और मानव संवेदना को वर्ग-जाति एवं मत-मतान्तरों की परिधि से निकालकर भावना के विराट पीठ पर प्रतिष्ठित करते हैं। श्री श्रीचन्द्र जी इस भावक और भावुक सद्प्रयत्न के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

उज्जैन
चंद्रावतरण-दिवस
२१-७-६९

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन कथाओं का सांस्कृतिक-अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रतिज्ञात विषय का व्यापक तथा क्रमबद्ध उपस्थापन करने के निमित्त विद्वान लेखक ने 'संस्कृति' और 'सभ्यता' का स्वरूप, उनके पारस्परिक भेदक तत्त्व, संस्कृति के अवान्तर रूप, 'लोक' शब्द का आशय, लोक जीवन से लोक संस्कृति का संबंध, जैन धर्म में लोक शब्द की विभिन्न व्याख्यायें, लोक-संस्कृति की विशेषताएँ और मूलतत्त्व, जैन संस्कृति की आपेक्षिक प्राचीनता, जैन धर्म का आशय, जैन संस्कृति का महत्व और उसकी विशेषताएँ, वैदिक संस्कृति के संदर्भ में जैन संस्कृति का वैशिष्ट्य आदि विभिन्न ग्रंथिल बिन्दुओं पर प्रकाश विकीर्ण किया है। इस प्रकार ग्रन्थ का यह भूमिका भाग वैचारिक गरिमा और प्रातिभ दीप्ति से मण्डित है। यद्यपि यत्र-तत्र दृष्टि विशेष से कुछ विवेचन प्रस्तुत हुए हैं—तथापि उक्त विषयों के सामान्य जिज्ञासु के लिए वे रोचक और उपादेय हैं।

विशुद्ध सैद्धान्तिक निरूपण के उक्त रूप के अनन्तर इस कृति में कथा शब्द की व्युत्पत्ति और जैनेतर कथाओं से जैन कथाओं का व्यावर्त्तक वैशिष्ट्य भी रेखांकित हुआ है। इसी क्रम में विद्वान लेखक ने जैन कथा साहित्य का सामान्य परिचय, विविध आधारों पर वर्गीकरण, विशेषताएँ, कतिपय कथा-कोषों का परिचय, जैन कथाओं में चित्रित लोक-संस्कृति, उनमें प्रयुक्त रूढ़ियाँ-आदि का अप्रतीति-परिचायक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस व्यापक समारम्भ के साथ लेखक अपने आलोच्य विषय पर उतर आया है। यहाँ से जैन कथाओं में लोक-संस्कृति के विभिन्न उपादानों का विश्लेषण, जैन कथाओं में गुम्फित सूक्तियाँ, जैन कथाओं में नारी, अलौकिक तत्त्व, पात्र वैविध्य, आदर्श और यथार्थवाद, प्रकृति चित्रण, रचना प्रक्रिया, सार्वभौमिकता, नामसंयोजन, समुद्र यात्रा, सौन्दर्य वैविध्य-आदि सांस्कृतिक और साहित्यिक पक्षों का सांगोपांग उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत कृति की उपर्युक्त विस्तृत विषय तालिका से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का अध्ययन क्षेत्र व्यापक तथा वैविध्यपूर्ण है। साथ ही साथ यह भी प्रतीत होता है कि उनका विवेचन और विश्लेषण जहाँ एक ओर मूल-शीर्षक की विस्तृत परिधि का स्पर्श करता हुआ अनावश्यक बाहर नहीं जाता,

वहीं दूसरी ओर जटिल बिन्दुओं को स्पष्ट करने में भी सक्षम है। इन विशेषताओं के साथ-साथ एक अन्य विशेषता है–भावों और विचारों के प्रकाशन की रीति की प्राञ्जलता।

ग्रन्थ का प्रास्ताविक भाग विवेचनात्मक है और मूलभाग संस्कृति के उपादानों के सोदाहरण स्पष्टीकरण वशविवरणात्मक। विवेचनात्मक भाग में कुछ विवेचनाएँ ऐसी हैं जो सामान्यतः सबको मान्य हो सकती हैं–पर कुछ विवेचनाएँ ऐसी हैं जो दृष्टि-विशेष-जैन दृष्टि से प्रस्तुत हुई हैं। अपने मार्ग में निष्ठावान् होने की उदग्र परिणति भी यत्र-तत्र लक्षित होती है-जो किसी भी कर्मठ व्यक्ति में, साधक जीव में सम्भव है। देश, काल और संस्कार के भेद से संस्कृति मूलतः अभिन्न और नित्य होती हुई भी व्यावहारिक धरातल पर अनित्य और भिन्न हो जाती है। व्यावहारिक धरातल पर जिस प्रकार धर्म प्रवृत्ति मूलक होता है उसी प्रकार संस्कृति भी यदि प्रवृत्ति मूलक और निवृत्ति मूलक मान ली जाय (मानी भी गई है) तो जैन धर्म की भाँति जैन-संस्कृति भी निवृत्तिमूलक संस्कृति कही जा सकती है। ब्राह्मण संस्कृति प्रवृत्तिमूलक और जैन तथा बौद्ध जैसी श्रमण संस्कृति निवृत्तिमूलक हैं। ये 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' शब्द बड़े ही महत्व के हैं। वास्तव में 'निवृत्ति' के बिना 'प्रवृत्ति' धर्म नहीं और 'प्रवृत्ति' के बिना 'निवृत्ति' सम्भव नहीं–फिर भी आपेक्षिक प्राधान्य को लेकर 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' की बात की जाती है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'–द्वारा निवृत्ति गर्भ 'प्रवृत्ति' धर्म की ही बात कही गई है। बँध भोग ही बँध प्रवृत्ति है। बँध होने के ही कारण वह धर्म है और बँध इस लिए है कि उसके मूल में त्याग अथवा निवृत्ति है। एक बात और भी ध्यान देने की है कि प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग संभव भी नहीं है–इसीलिए हर प्रकार की 'प्रवृत्ति' 'निवृत्ति' की विरोधी नहीं है। शुद्ध 'प्रवृत्ति' तो 'निवृत्ति' में सहायक है।

इन उक्त धर्म या संस्कृतियों में तात्त्विक दृष्टि से अच्छी या खराब कोई नहीं, बल्कि दोनों ही अपनी जगह बराबर हैं। कारण, धर्म का विधान व्यक्ति की योग्यता और अधिकार को देखकर होता है और अधिकार का तारतम्य पूर्वजन्म के कर्म, उनके संस्कार तथा योग्यता के ऊपर निर्भर होता है। आज का वैज्ञानिक भी वातारण और आनुवंशिकता के आधार पर मनुष्य को अपने विकास की दिशा निर्द्धारित करता है। विश्व-संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति का 'पुनर्जन्मवाद' असाधारण वैशिष्ट्य है। भारतीय संस्कृति में चाहे ब्राह्मण संस्कृति हो या श्रमण संस्कृति-दोनों ही पुनर्जन्मवाद

पर विश्वास रखती हैं—इसीलिए 'कर्मवाद' की यहाँ इतनी महत्ता गाई है। दोनों ही देहशुद्धि को चित्तशुद्धि में कारण मानती हैं और चित्तशुद्धि से ही आगे का विकास सम्भव है। ग्रन्थकार अन्य संस्कृतियों की तुलना में जैन संस्कृति और उसके उपादानों की जब सर्वातिशायी महत्ता का गान करता है-तब वह तात्विकता से हटकर आस्था पर आ जाता है। ऐसा होना मैं एक दृष्टि से अच्छा भी मानता हूं। आस्था के द्वारा ही तत्त्व तक पहुंचा जा सकता है थोथा तत्त्व निरर्थक होता है। अपनी संस्कृति का यशोगान अपने संस्कारानुरूप आस्था को व्यक्त करता है और यह आस्था साधक को एकनिष्ठ बनाती है। अध्यात्म यात्रा में 'मनन' का यही अभिप्राय है। 'मनन' में अपनी आस्था के अनुकूल पड़ने वाले तत्त्वों के प्रति अनुकूल तर्क से झुकाव और विपरीत पड़ने वाले तत्त्वों के प्रनि विपरीत तर्क से अलगाव ही तो होता है।

संस्कृति Values of life है और सभ्यता Means of life. संस्कृति जिन जीवन मूल्यों की समष्टि है वे तत्तत् संस्कृति के कर्णधारों के उच्चतम चिंतन के मूर्त रूप हैं। ब्राह्मण अथवा श्रमण संस्कृतियों के उन्नायकों ने स्वधर्म-निर्दिष्ट आदर्शों के अनुरूप विभिन्न जीवन मूल्य वैयक्तिक, सामाजिक, दैहिक और आत्मिक धरातलों पर ढूंढ निकाले हैं-जिनके प्रचार प्रसार के लिए कथा-कहानियों का माध्यम लिया गया है।

ऊपर जिस कर्मवाद की बात कही गई है वह कर्म निष्कामकर्म या निर्वीजकर्म होकर 'स्व' भाव की ओर हो जाने में उपयोगी है। यह निष्काम-कर्म एक प्रकार की सेवा ही है। बौद्ध सस्कृति में पृथक जन, श्रावक, महा-श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक् संबुद्ध में उत्तरोत्तर सेवा का श्रेष्ठ रूप होता जाता है। कारण सम्यक् संबुद्ध में प्रज्ञा और करुणा की समरस स्थिति हो जाती है। लौकिक सेवा बोधिसत्त्व की दशा में पूर्ण करनी पड़ती है। बौद्धों के जातक और 'अवदान'-कथाओं में इसी करुणा की जो बौद्ध संस्कृति की अन्तरात्मा है-का प्रतिपादन मिलता है।

ब्राह्मणों की प्रवृत्तिमार्गी संस्कृति की बात ऊपर कही जा चुकी है। यहाँ भी औपनिषद् तथा पौराणिक एवं अन्यविध वाङ्मय में स्वकीय संस्कृति के संघटक उपादानों में आस्था उत्पन्न करने के निमित्त तमाम रोचक बातें कही गयी हैं। उनका सहारा लेकर यहाँ भी 'शुद्धवासना' के उपकारी अशुद्ध अध्वा में पड़े जीवों की सेवा करते हुए 'स्व' भाव की प्राप्ति कर लेते हैं।

जैनधर्म और विज्ञान में तीर्थङ्करत्व ही सेवा का आदर्श है। केवल ज्ञान की प्राप्ति त्रयोदसवें गुण स्थान में और सिद्धिलाभ चौदहवें गुण स्थान में होता

है। केवल ज्ञान पाकर भी उसे सब प्राणियों में देने की आकांक्षा नहीं होती--यह सेवाभाव केवल तीर्थंकर में ही है। ब्राह्मण धर्म का गुरु, बुद्ध धर्म का बुद्धत्व और जैन धर्म का तीर्थङ्करत्व ही सेवा--निष्कामकर्म--का परम आदर्श है। जब तक जीव का ग्रंथिच्छेद नहीं होता--तब तक शुद्धिलाभ नहीं होता। शुद्धिलाभ की पूर्णता तीर्थंकर में है। जिस जीव में ग्रंथिच्छेद होते ही विश्व-दुःख का अनुभव होने लगे फलतः उसकी निवृत्ति में संलग्न हो जाय-वही जीव तीर्थंकर हो पाता है--वही सेवा का उच्च आदर्श प्राप्त कर सकता है।

निष्कर्ष यह है कि ग्रन्थकार ने इस प्रकार संस्कृति वैदिक संस्कृति श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति--श्रमण संस्कृति जैन संस्कृति--पर विचार करते हुए अन्य संस्कृति के मूल उपादानों का जैन कथाओं में किस प्रकार प्रतिपादन मिलता है--यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जैन संस्कृति के कर्णधारों ने दैहिक, आत्मिक, वैयक्तिक और सामाजिक भूमियों पर जो जीवनमूल्य प्रतिष्ठित किये हैं--उनका यहाँ सोदाहरण उपस्थापन किया गया है। विभिन्न सूक्तियों को छांटकर उनकी पुष्टि की गई है। संस्कृति की अभिव्यक्ति के भी अन्यान्य माध्यम हैं--ग्रन्थकार ने उस दिशा में भी विभिन्न पक्षों का उदाहरण की पृष्ठभूमि पर निरूपणा की है। ऐसी उपादेय कृति के निर्माण के लिये श्री जैन साहब मेरे ही नहीं, तमाम अध्येताओं और संस्कृति के उपासकों के साधुवाद के पात्र हैं और होंगे।

राममूर्ति त्रिपाठी

१३१ दशहरा मैदान
उज्जैन

अभ्यर्थना

जैन-कथा उस पुनीत स्रोतस्विनी के समान है जो कई युगों से अपने मधुर सलिल से जाने-अनजाने धरती के अनन्त कणों को सिंचित कर रही है एवं परिचित और अपरिचित करोड़ों प्यासे कंठों की प्यास बुझा रही है। इस कथा-सरिता में सर्वत्र मानवता की ललित लोल लहरें शैली-शिल्प के मनोरम सामंजस्य से परिवेष्ठित हैं। यह इतनी विशद है कि इसके 'अथ' तथा 'इति' की परिकल्पना करना कठिन है। इसके 'जीवन' में आदर्शों के प्रति निष्ठा है और चिरपोषित संशयों एवं अविश्वासों के प्रति कभी मौन और कभी सन्तप्त विद्रोह है। इसके दो मनोरम तट हैं—भाव एवं कर्म। इन दोनों भव्य किनारों के सहारे इस प्रवाहिनी ने लोक-जीवन की दूरी को नापा है, हर्ष-विषाद, एवं संकीर्णता-उदारता के अपरिमित मन्तव्यों को पहिचाना है, विरामहीन यात्रा के कटु-अनुभवों को परखा है, एवं दो विभिन्न युगों के अलगाव को भी समझा है। इस जैन-कथा-तटिनी की गाथा बड़ी सुहावनी है।

वस्तुतः जैन-कथाओं की व्यापकता में विश्व की विभिन्न कथा-वार्त्ताओं को प्रश्रय मिला है। फलतः जगत की कहानियों में जैन-कथाओं की साँसें किसी न किसी रूप में संचरित होती रहती हैं। एक ओर इनमें दुःख-दर्द की प्रतिध्वनियाँ हैं तो दूसरी ओर जीवन के शाश्वत सुख स्वर-भी गहरी आस्था को लिए हुए यहाँ मुखर हैं। संस्कृति, जितनी अधिक कथाओं के अन्तराल में सन्निहित है, उतनी अधिक साहित्य की अन्य विधाओं में परिलक्षित नहीं हो पाई है। परिणाम स्वरूप संस्कृति के अध्येता कथाओं के माध्यम से अपने लक्ष्य की सहज प्राप्ति कर लेते हैं।

मानव-जीवन के जिस सार्वजनीन सत्य की माटी में संस्कृति के चिरंतन तत्वों की प्रतिष्ठा मानी गई है उसका प्रथम उन्मेष इन्हीं जैन कथाओं में उपलब्ध होता है। इन कहानियों की गरिमा एवं उपयोगिता को न काल-भेद क्षीण कर सके हैं और न व्यक्तिगत हठीला गुमान धूमिल बना सका है। प्रत्युत काल-खंडों की प्राचीनता ने इन कथाओं को अधिक सफल बनाया है एवं वैयक्तिक अवरोधों ने उनकी व्यापकता को विशेषतः अपरिहार्य प्रमाणित कर दिया है।

लोक स्वयं को इन कथाओं में सहजरूप से चित्रित पाता है, बस इसीलिए ये कहानियाँ लोक को सबसे अधिक प्रिय हैं। इन्हीं को सुनकर लोक-चेतना अपने पराभव को भूलती है, उत्कर्ष को समझती है, गत्यवरोध के मूल कारणों का अध्ययन करती है, इकाई में समग्रता के भाव को पहचानती है, अपने दुःख-दर्द को विस्मृत करती है एवं स्वर्णिम प्रभात की कल्पना को साकार बनाती है।

हिन्दी जैन कथाओं के दो रूप हमें प्राप्त होते हैं—प्रथम रूप है विभिन्न भाषाओं से अनूदित कथाएँ और दूसरा रूप है मौलिकता, जो पौराणिक कथाओं के माध्यम से अभिव्यंजित हुआ है। आज बहुत से विद्वान् जैन पुराणों की कथाओं को नूतन शैली में प्रस्तुत कर रहे हैं।

डॉ० नेमिचन्द्र जैन के कथनानुसार "जैन आख्यानों में मानव जीवन के प्रत्येक रूप का सरस और विशद् विवेचन है तथा सम्पूर्ण जीवन चित्र विविध परिस्थिति-रंगों से अनुरंजित होकर अंकित है। कहीं इन कथाओं में ऐहिक समस्याओं का समाधान किया गया है तो कहीं पारलौकिक समस्याओं का।

अर्थ नीति, राजनीति, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों, कला-कौशल के चित्र, उत्तुंगिनी अगाध नद-नदी आदि भूवृत्तों का लेखा, अतीत के जल-स्थल मार्गों के संकेत भी जैन कथाओं में पूर्णतया विद्यमान हैं। ये कथाएँ जीवन को गतिशील, हृदय को उदार और विशुद्ध एवं बुद्धि को कल्याण के लिए उत्प्रेरित करती हैं। मानव को मनोरंजन के साथ जीवनोत्थान की प्रेरणा इन कथाओं से सहज रूप में प्राप्त हो जाती है।

प्राचीन साहित्य में आचारांग, उत्तराध्ययनांग, उपासक दशांग, अन्त-कृत दशांग, अनुत्तरोपपादि दशांग, पद्मचरित्र, सुपार्श्वचरित्र, ज्ञातृधर्मकथांग, आदि धर्म ग्रन्थों में आयी हुई कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी जैन-साहित्य में संस्कृत और प्राकृत की कथाओं का अनेक लेखकों और कवियों ने अनुवाद किया है। एकाध लेखक ने पौराणिक कथाओं का आधार लेकर अपनी स्वतंत्र कल्पना के मिश्रण द्वारा अद्‌भुत कथा-साहित्य का सृजन किया है। इन हिन्दी कथाओं की शैली बड़ी ही प्रांजल, सुबोध और मुहावरेदार है। लक्षित लोकोक्तियाँ, दिव्य दृष्टान्त और सरस मुहावरों का प्रयोग किसी भी पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।"[1]

---

1. हिन्दी जैन-साहित्य–परिशीलन भाग २, पृष्ठ ७७

इस पुस्तक में मैंने जैन-कथाओं के माध्यम से जैन-संस्कृति के एक भव्य रूप को चित्रित करने का लघु प्रयास किया है। प्रकाशन की सीमित सुविधा के कारण मैं अपने कथ्य को पूर्ण रूप से प्रतिपादित न कर सका। पुस्तक की कलेवर वृद्धि के भय ने मुझे विस्तार की ओर नहीं जाने दिया।

परमादरणीय डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' उपकुलपति विक्रम विश्व-विद्यालय उज्जैन के आशीर्वाद को पाकर मैं स्वयं को भाग्यशाली मानता हूँ। इस आशीष से मेरी यह लघु-रचना गौरवान्वित हुई है। इस उदारता के लिए मैं डॉक्टर साहब के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। आप जैसे मनीषी की आशीष को पाकर कोई भी सरस्वती का सेवक अपनी साधना को सफल मान सकता है। निश्चयतः डॉ० सुमन एक विद्यावट वृक्ष के ही प्रतिरूप हैं, जिसकी सुखद छाया में बैठकर साहित्य पथिक अपनी थकान को मिटाता है एवं सनातन आकांक्षाओं को फलवती बनाता है।

श्रद्धेय डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्व-विद्यालय उज्जैन का भी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने भूमिका लिखकर इस कृति के महत्व को द्विगुणित कर दिया है। आप एक उद्भट विद्वान् एवं समर्थ आलोचक हैं। आपके सौजन्य की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। आपके सान्निध्य को उपलब्ध कर अनेक शोध-स्नातक अपनी मौलिक चिन्तन-शीलता को प्रबुद्ध बना रहे हैं। डॉ० त्रिपाठी की अप्रतिहत साहित्य-साधना बड़ी व्यापक है एवं उत्प्रेरक भी।

मैं उन समस्त विद्वानों का भी आभारी हूँ, जिनकी रचनाओं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में मैंने सहायता ली है।

श्रीचन्द्र जैन

गान्धीपनि महाविद्यालय
उज्जैन।
१ मई १९ १

अनुक्रमणिका

संस्कृति : एक परिचय

संस्कृति ही राष्ट्र एवं समाज विशेष की गति-विधियों का परिचय कराती है। इसी के माध्यम से जन-मानस का अध्ययन किया जाता है और यही (संस्कृति) चिरन्तन भावनाओं, कामनाओं तथा मन्तव्यों की आधार शिला कही गई है। जिस राष्ट्र की संस्कृति विशद, उदार एवं महती होती है उस राष्ट्र को समुन्नत कहा जाता है और विश्व के सम्मुख उसका समादर होता है। ऐसे विशाल राष्ट्र की गरिमा इतिहास के पृष्ठों में सदैव जीवित रहती है और यही अपने अस्तित्व को बड़े गौरव के साथ सुदृढ़ बनाता है। इसके विपरीत अवनता संस्कृति कभी भी पददलित की जा सकती है और ऐसी संस्कृति किसी भी क्षण अपने स्वरूप को धूसरित बनाकर विनाश के गह्वर में विलीन हो सकती है। संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग के साथ संस्कृत की (डु) कृ (ञ्) धातु से बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। आज की हिन्दी में यह अँग्रेजी शब्द कल्चर का पर्याय माना जाता है। संस्कृति शब्द का प्रयोग कम से कम दो अर्थों में होता है, एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थ में। व्यापक अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग नर विज्ञान में किया जाता है। उक्त विज्ञान के अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहार का नाम है जो सामालिक परम्परा से प्राप्त होता है। इस अर्थ में संस्कृति को 'सामाजिक प्रथा, (कस्टम) का पर्याय भी कहा जाता है। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वाञ्छनीय वस्तु मानी जाती जाती है और संस्कृत् व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थ में

संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं। नरविज्ञानियों के अनुसार संस्कृति और सभ्यता शब्द पर्यायवाची हैं।[1] डॉ० दिनकर के मतानुसार संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं ·······संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है।"[2]

संस्कृति स्वय में विकास शील होती है और सदा विकसित होकर सम्बन्धित समाज को विकास के पथ पर बढ़ने के लिए सतत प्रेरणा देती रहती है। यही प्रगतिशीलता संस्कृति का लक्ष्य है। पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने लेख—'वैदिक संस्कृति के मूलमन्त्र' में लिखा है कि "मनुष्य के पास इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा इतनी शक्तियाँ हैं। प्रत्येक मनुष्य के पास ये शक्तियाँ हैं। मानव की प्रत्येक शक्ति संवर्द्धित हो सकती है। और वह संस्कार सम्पन्न भी हो सकती है। इस शक्ति-संवर्धन से और संस्कार सम्पन्नता से मानव का अतिमानव बनना, यह संस्कृति का ध्येय है। इसी को जीव का शिव, नर का नारायण, बोद्ध का मुक्त होना कहते हैं। संस्कृति का यही अंतिम साध्य है।"[3]

व्यापक एवं संकीर्ण अर्थों में प्रतिपादित संस्कृति वरेण्य है तथा इसी के सहारे मानव अपने स्वरूप का अनुशीलन कर सकता है।

संस्कृति एवं सभ्यता

आज के युग में कतिपय विद्वानों ने अपनी उदारता का परिचय देते हुए संस्कृति एवं सभ्यता को एक ही रूप में माना है। इनका कहना है कि भेद-बुद्धि को जितना कम अपनाया जाय उतना ही श्रेयस्कर है। भेद-प्रभेद की भावना संकीर्णता को जन्म देती है। इन विद्वानों का यह कथन सर्वथा परित्याज्य नहीं है लेकिन तात्विक विवेचन की दृष्टि से सूक्ष्म अनुशीलन भी तो आवश्यक है। ऐसी स्थिति में संस्कृति तथा सभ्यता भले ही एक दूसरे के पूरक हों किन्तु उनमें भेद है और उन्हें एक दूसरे का पर्याय बताना समुचित नहीं कहा जा सकता है।

1. हिन्दी साहित्य कोश भाग १ पृष्ठ ८६८
2. संस्कृति के चार अध्याय, परिशिष्ट क पृष्ठ ६५३
3. सम्मेलन पत्रिका, लोक-संस्कृति अंक पृष्ठ ४१

"हमारी समझ में संस्कृति और सभ्यता में अन्तर किया जाना चाहिए। सभ्यता से तात्पर्य उन अविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक राजनीतिक संस्थाओं से समझना चाहिए. जिन के द्वारा मनुष्य की जीवन-यात्रा सरल एवं स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत संस्कृति का अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियायें समझनी चाहिए, जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनाने वाली हैं। इस दृष्टि से हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधन आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारों को संस्कृति की संज्ञा देंगे। मोक्ष धर्म अथवा पूर्णतत्व की खोज भी संस्कृति का अंग मानी जायगी। थोड़े शब्दों में और व्यापक अर्थ में किसी देश की संस्कृति से हम मानव जीवन तथा व्यक्तित्व के उन रूपों को समझ सकते हैं, जिन्हें देश विशेष में महत्वपूर्ण अर्थात् मूल्यों का अधिष्ठान समझा जाना है। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति में 'मातृत्व और स्थितप्रज्ञता' की स्थितियों को महत्वपूर्ण समझा जाता है. ये स्थितियाँ जीवन अथवा व्यक्तित्व की स्थितियाँ हैं और इस प्रकार भारतीय संस्कृति का अंग है।[1]

संस्कृति एवं सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डा० सम्पूर्णानन्द डी. लिट् ने लिखा है कि वस्तुतः संस्कृति पद्धति, रिवाज, या सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्था नहीं है। नाचना—गाना, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, गृहनिर्माण इन सबका अन्तर्भाव सभ्यता में होता है। संस्कृति अन्तःकरण है, सभ्यता शरीर है। संस्कृति अपने को सभ्यता द्वारा व्यक्त करती है। संस्कृति वह साँचा है जिसमें समाज के विचार ढलते हैं, वह बिन्दु है जहाँ से जीवन की समस्यायें देखी जाती हैं। ....संस्कृति सदा एक सी नही रहती। नए लोगों के सम्पर्क का प्रभाव पड़ता है। विज्ञान के आविष्कार न जाने कितनी मान्यताओं की जड़ हिला देते हैं। ....परन्तु संस्कृतिकी अपेक्षा सभ्यता जल्दी बदलती है और उसका अनुकरण भी हो सकता है। संस्कृति क्रमशः बुद्धिसात् की जा सकती है, परन्तु उसका अनुकरण नहीं हो सकता। हजारों भारतीयों ने अंग्रेजों जैसी वेषभूषा बनाली है। बंगलों में रहने लगे, अंग्रेजी बोलने का अभ्यास डाल लिया पर यह सब होते हुए भी उनके मस्तिष्क के भीतर चोर की भाँति पुराना दृष्टिकोण, पुरानी भीरुता छिपी

1. हिन्दी साहित्य कोश: भाग १. पृष्ठ ८६८–६६

बैठी है। न पतलून पहिनने से संस्कृति बदलती है न धोती पहिनने से। वह तो विचारों की रगड़ से बनती बिगड़ती एवं बदलती है।[1]

संस्कृति और सभ्यता के मौलिक अन्तर को स्वीकार करते हुए महामहोपाध्याय डा० प्रसन्नकुमार आचार्य एम० ए०, पी-एच० डी, डी० लिट्० लिखते हैं कि "साधारणतया प्रयोग में संस्कृति और सभ्यता में अन्तर नहीं किया जाता है।" वस्तुतः देखा जाय तो साहित्य में भी ये प्रायः समानार्थक के तुल्य ही प्रयुक्त होते हैं। किन्तु किसी जाति और राष्ट्रीय संस्कृति और सभ्यता का ठीक-ठीक माप करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के मौलिक अन्तर को स्वीकार किया जाय। यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि संस्कृति बौद्धिक विकास की अवस्थाओं को सूचित करती है और सभ्यता का परिणाम शारीरिक एवं भौतिक विकास है। संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से है और सभ्यता का सम्बन्ध कर्म कलाप से। ········ इसलिए किसी समाज की सांस्कृतिक अवस्था और सभ्यता का ठीक निर्णय करने के लिए आवश्यक है कि उसके पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और कलाविषयक कार्यों का परीक्षण किया जाय। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "भारत की खोज" में यह कहते स्वीकार किया है कि—"समृद्ध सभ्यता में संस्कृति का विकास होता है और उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित विकसित होते हैं।" —इस प्रकार संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची है और सभ्यता भौतिक विकास का समानार्थक है। सभ्यता बाह्य क्रियात्मक रूप है और संस्कृति विचार धारा का परिणाम है। सांस्कृतिक या बौद्धिक विचारधारा, सभ्यता अर्थात् भौतिक विकास में परिणत हो जाती है। सांस्कृतिक अवस्था तथा सभ्यता व्यष्टि एवं समष्टि दोनों में सर्वदा परिवर्तनशील है। ये प्रत्येक युग, प्रत्येक देश एवं काल में बदलते रहते हैं और किसी भी नियम-शृंखला में बद्ध नहीं होते हैं। तथापि इतिहासज्ञों ने मानव समाज की सांस्कृतिक अवस्था और सभ्यता की उन्नति को कतिपय भागों में विभक्त किया है। समय निर्धारण बहुत संतुलित रूप में नहीं किया जा सकता, क्योंकि संस्कृति और सभ्यता विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न देश और काल में विभिन्न होती हैं।"[2]

संस्कृति और सभ्यता के मौलिक अन्तर को समझने के उपरान्त हमारे

1. सम्मेलन-पत्रिका लोक-संस्कृति अंक—पृष्ठ २२
2. सम्मेलन—पत्रिका, लोक-संस्कृति अंक—पृष्ठ २८

सामने संस्कृति की गरिमा का उज्वल चित्र स्वयं स्पष्ट हो जाता हैं। यही मनोरम चित्र हमें प्रेरित करता है कि हम अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखें तथा इसके संरक्षण एवं उन्नयन में सतत प्रयत्नशील रहें।

संस्कृति के दो रूप

संस्कृति के प्रमुख दो रूप हैं। एक लोक संस्कृति और दूसरी लोकेतर संस्कृति। यदि हम इन दो संस्कृतियों को ग्राम-संस्कृति तथा नागरिक संस्कृति के रूप में अभिहित करें तो कोई आपत्ति न होगी। लोक-संस्कृति लोकेतर संस्कृति की आधार-शिला है और इसी से सम्बल को पाकर दूसरी संस्कृति पल्लवित एवं पुष्पित-फलित होती रहती है। जो अन्तर लोक-गीत—शिष्टगीत में अथवा लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य में है, वही अन्तर लोक-संस्कृति एवं लोकेतर संस्कृति में बताया गया है। यद्यपि लोक-संगीत शास्त्रीय संगीत का उद्‌गम-स्थल है फिर भी इन दोनों में जो अन्तर परिलक्षित होता है वही भेद इन दो संस्कृतियों में माना गया है।

लोक-संस्कृति प्रकृति की गोद में पली हुई वनस्थली है और लोकेतर संस्कृति नगर के मध्य अथवा पार्श्व में निर्मित उद्यान है। एक सहज है, नैसर्गिक है और अकृत्रिम है और दूसरी निसर्ग से दूर है और कृत्रिमता के सहारे जीवित है। लोक-संस्कृति ग्रामों के सुखद वातावरण में समुत्पन्न होकर अपने स्थायित्व को अमर बनाती है और लोकेतर संस्कृति नगरों की विकृत परिधि में जन्म लेकर किसी भी समय अपना रङ्ग बदल सकती है।

इन दोनों संस्कृतियों के अन्तर पर विचार करते हुए महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज एम० ए० कहते हैं कि लोक-संस्कृति और लोकेतर संस्कृति में उतना ही अंतर है जितना श्रद्धा और तर्क, सहज और सजावट में होता है। लोक-संस्कृति प्रकृति की गोद में पलती और पनपती है, लोकेतर संस्कृति आग उगलती हुई चिमनियों, हुंकार करती हुई मशीनों और विद्युत बल्बों से प्रदीप्त नगरों में निवास करती है। लोक-संस्कृति के उपासक या संरक्षक बाहर की पुस्तकें न पढ़कर अन्दर की पुस्तकें पढ़ते हैं, उनके हृदय-सरोवर में श्रद्धा के सुमन सदैव फूले रहते हैं, लोकेतर संस्कृति के उपासकों, संरक्षकों में धन, पद, शिक्षा का स्वाभिमान रहता है। उनके हृदयों में तर्क की चिनगारियाँ सुलगती रहती है। लोक-संस्कृति की शिक्षा-प्रणाली में श्रद्धा-भक्ति की प्राथमिकता रहती है। उसमें अविश्वास, तर्क का कोई स्थान नहीं रहता। इसी से ज्ञान और सिद्धि की सहज प्राप्ति भी होती है………लोक-

संस्कृति में श्रद्धा भावना की परम्परा शाश्वत है। वह अन्तः सलिला सरस्वती की भाँति जन-जीवन में सतत प्रवाहित हुआ करती है। वस्तुतः लोक-संस्कृति एवं लोकेतर संस्कृति तथा विश्व की सभी संस्कृतियों का बीज एक ही है। स्थान, काल, वातावरण की विभिन्नता से ही वह विभिन्न रूप धारण करता है। जैसे जल वास्तव में एक ही है किन्तु उसके बूँद नीम के वृक्ष में पड़कर कड़वाहट पैदा करते हैं और आम के वृक्ष में पड़कर वही रसाल बन जाते हैं। यह बीज लोक-संस्कृति ही है, जो भारतीय संस्कृति और भारत देश को जीवन्त बनाये हुए हैं, इसलिये कि इसमें जीवन है, प्राणद स्पर्श और समन्वय के अनन्त स्रोत हैं।" [1]

लोक-संस्कृति की इस व्यापकता एवं विशदता से प्रकट होता है कि यह गगन में समान विस्तृत, सागर की भाँति गंभीर, पवन के सदृश प्राणदायिनी और शस्य-श्यामला धरित्री की तरह जीव-मात्र की पोषिका और आश्रयदात्री है। इस संस्कृति के संदर्भ में लोक शब्द पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

लोक शब्द की व्याख्या एवं व्यापकता

लोक शब्द के अर्थ में कई दृष्टियों से विभिन्नता प्रदर्शित की गई है। कामधेनु के समान शब्द एक ओर वाञ्छित अर्थ को प्रकट करते हैं और दूसरी ओर मनोकामना की पूर्ति में सहायक बनते हैं। जिस प्रकार कामधेनु समस्त कामनाओं को पूर्ण करने में सक्षम बताई गई है उसी प्रकार शब्द भी अपने व्यापक एवं विशद अर्थों के माध्यम से मानव-मन की सम्पूर्ण अनुभूतियों को चित्रित करने में समर्थ हैं।

'संतकाव्य में लोक-संस्कृति' शीर्षक निबंध में श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने 'लोक' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि 'लोक का अर्थ होता है संसार, जन, समाज, स्थान। उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है-इहलोक एवं परलोक। निरुक्त में लोक शब्द का प्रयोग पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के अर्थ में हुआ है। पौराणिक काल में लोक शब्द का प्रयोग भूलोक, भुवलोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक के अर्थ में पाया जाता है। पौराणिक काल के अनन्तर इस शब्द का प्रयोग अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान् तल, सुतल और पाताल के अर्थ में किया गया है।

---

1. सम्मेलन पत्रिका—लोक संस्कृति अंक पृष्ठ २०

आज इस शब्द का प्रयोग जन जनता या सर्वसाधारण के अर्थ में होता है। हिमालय की गोद में बसे हुए छोटे-छोटे जन पदों से लेकर कुमारी अन्तरीप तक प्रसृत व्यापक जन-समूह या मानव समाज लोक है। भारतीय लोक-जीवन का इतिहास बड़ा प्राचीन और सुदीर्घ है। शताब्दियों से जो कुछ हमने चिन्तन किया और उस चिन्तन को कार्य रूप में परिणत किया, वह हमारी रहनी, सहनी करनी, रीति रिवाज, और व्यवहार सभी कुछ लोक-जीवन है। लोक-जीवन ही लोक संस्कृति का अभिन्न अंग है। लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति की पुण्य सलिला भागीरथी युग-युग से प्रवाहित है और प्रवाहित रहेगी। इसका स्रोत लोक-जीवन है। लोक-संस्कृति राष्ट्र का अमर रूप है।" [1]

लोक की व्यापकता के सम्बन्ध में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का निम्नस्थ कथन उल्लेख्य है। वे लिखते हैं कि हमारी दृष्टि, अर्थ शक्ति, ज्ञान, साहित्य, कला के नाना रूप, भाषाएँ और शब्दों के भण्डार, जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव, नृत्य, संगीत, कथावार्ताएँ, आचार-विचार सभी कुछ भारतीय लोक में ओत-प्रोत हैं। लोक की गंगा युग-युग से वह रही है। उसके ओजस्वी प्रवाह में हमारी संस्कृति के मेघ जल पूर्व युगों में बरसते रहे हैं, संप्रति बरस रहे हैं और आगे भी-उनकी सहस्र धारायें लोक-जीवन की भागीरथी को आगे बढ़ाती रहेंगी। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत भविष्य वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक के कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूता माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे नए जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्वाण का नवीन रूप है। लोक-पृथ्वी-मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है। लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। इसे बस एक और नया शास्त्र कहकर नहीं टाला जा सकता। लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अधूरे हैं। लोक का अमृत निष्पन्द जिस शास्त्र में नहीं मिलता है वह कितना भी पण्डिताऊ हो निष्प्राण रहता है। [2]

जैनागम के अनुसार 'लोक' की व्याख्या—

'लोक' शब्द के अनेक अर्थ हैं। यह समस्त भूमण्डल लोक-शब्द के

1. समाज (त्रैमासिक) अगस्त १९५८ पृष्ठ ४५०
2. समाज (त्रैमासिक) अगस्त १९५९ पृष्ठ ४५१

निष्ठ थे। संभव है कि काल के परिवर्तन के साथ धार्मिकता नगरों से हटकर ग्रामों में पहुंच गई हो। क्योंकि जैन मुनियों का विहार नगरों की अपेक्षा ग्रामों में अधिक होता था और इसी लिए ग्रामों की धरती धर्म-प्राण बनी, लेकिन नगरों में भी तो जैन-साधु जाते थे और वहाँ की जनता को भी उपदेश देते रहते थे। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन जैन-कथा साहित्य केवल ग्रामवासियों को धर्म-प्रधान प्रमाणित करने को तत्पर नहीं है। पुरातन काल में जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। गाँवों जनपदों एवं नगरों में विशेष अन्तराल न होने से धार्मिक प्रवृत्ति सर्वत्र ही लक्षित होती थी और आधुनिक काल के समान शोषक एवं शोषित के दर्दभरे दृश्य उस समय देखने के लिए अधिक नहीं मिलते थे, क्योंकि धार्मिक विवेक ने मानवता को उस समय विशेष जाग्रत कर रखा था। विशिष्ठ धार्मिक निष्ठा के कारण धर्म-विरोध की भावना अवश्य थी लेकिन यह विरोधी भावना दानवता की कटुता से विषाक्त नहीं बनी थी। इतिहासकारों को संभवतः यह कथन मान्य न हो, लेकिन कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि प्राचीन काल में जो धार्मिक विरोध प्रदर्शित किया गया था उसमें कतिपय कारणों से अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया था।

लोक संस्कृति की विशेषताएँ एवं मूलतत्व

समस्त भूमंडल को अपनी विशाल परिधि में घेरे हुए यह लोक-संस्कृति अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण इतनी लोकप्रिय बनी है कि विश्व के सतत संघर्ष भी इसके प्रभाव को किसी भी रूप में धूमिल नहीं बना सके हैं। सत्य तो यह है कि सनातन संघर्षों एवं अभावों के बीच में पली यही एक संस्कृति है जिसने इन्हें (संघर्षों और अभावों को) बड़े स्नेह से अपनाया है और अपने विकास में इन्हें ही प्रमुख साधन माना है। इसी लोक संस्कृति को मेघ जल देते हैं पवन इसकी थकान को मिटाते हैं और सागर इसके चरणों की धूलि को धोते रहते हैं। विघटन और तनाव तो इस संस्कृति को अधिक प्राणवती बनाते हैं। सरसता, सहजता, अमरता, संघर्ष-प्रियता, परोपकार-निरता समता, उदारता, विश्व बन्धुत्व, अकृत्रिमता आदि लोक-संस्कृति की विशेषताएँ हैं तथा इसके मूलतत्व ये हैं—[1]

1. संत काव्य में लोक संस्कृति ले० श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित—समाज, अक्टूबर १९५८. पृष्ठ ४५२

(१) भिन्नता में एकता (२) बाह्यरूप में परिवर्तन परन्तु तात्त्विक स्थिरता (३) मानवता एवं सहिष्णुता (४) प्रकृति से अभिन्न सम्बन्ध (५) सत्य परिपालन (६) विद्या और कला की उन्नति (७) आध्यात्मिक विकास (८) तत्वज्ञों का समय-समय पर आविर्भाव (९) ज्ञान की पिपासा (१०) प्रजापालक शासन।

लोक-संस्कृति की ये विशेषताएँ भारतीयता को अपनाए हुए हैं। यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि ये (विशेषताएँ) सार्वभौमिक हैं। देश-काल आदि से प्रभावित संस्कृतियों में विभिन्नता होना स्वाभाविक ही है। फलतः ये विशेषताएँ भी संस्कृतियों के अनुसार कम अथवा अधिक हो सकती हैं।

जैनसंस्कृति : एक विश्लेषण

जैन संस्कृति बड़ी प्राचीन है। इसे बौद्ध संस्कृति से प्रभावित कहना भी अनुचित है तथा बौद्ध संस्कृति का इसे अंग मानना भी समुचित नहीं है। यह स्वयं में इतनी व्यापक, मौलिक तथा चिरन्तन है कि इसे किसी विशिष्ट संस्कृति की परिधि में आबद्ध करना युक्ति संगत न होगा। हाँ यह तो मान्य है कि संस्कृतियाँ एक दूसरे से निरन्तर प्रभावित होती रहती है और ऐसी परिस्थिति में कुछ तत्व एक संस्कृति के यदि दूसरी संस्कृति में समाहित हो जाते हैं तो सर्वथा उचित ही है। इसका अर्थ यह न होगा कि एक संस्कृति दूसरी संस्कृति की आधारभूत है अथवा इन दोनों में चिरन्तन साहचर्य है।

वैदिक संस्कृति से भी अधिक प्राचीन जैन संस्कृति है जिसने (जैन संस्कृति) विश्व की अनेक संस्कृतियों को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है। वेदों के अध्ययन से यह प्रमाणित हो जाता है कि जैन तीर्थंकरो का इनमें (वेदों में) उल्लेख हुआ है और जैन संस्कृति भी किसी न किसी रूप में चित्रित हुई है। भारतीय दर्शन (Indian Philosoply Vol. I. P. 287) में डॉ० सर राधाकृष्णन लिखते हैं—'जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है जो बहुत सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत

पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे ।[1]

श्री कामताप्रसाद जी जैन D. L., M. R. A. S. ने अपने लेख– 'जैन धर्म की प्राचीनता और उसका प्रभाव' में उचित प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि प्राङ्. ऐतिहासिक काल में भी जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार था ।' (देखिए श्रीमद् राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ ५०५)

ऐसी प्राचीनतम संस्कृति विश्वमैत्री की प्रचारिका है एवं सम्पूर्ण जगत के कल्याण की पूर्ण भावना को लेकर ही यह आज भी जीवित है । इस उदार संस्कृति ने उनके संघर्षों की ज्वाला को सहा तथा विनाशक साधनों के अस्तित्व को मिटा कर अपना संरक्षण किया । फलतः विश्व ने इसकी उपयोगिता को समझा और इसे अपनाया । भगवान जिनेन्द्रदेव (कर्मों को जीतने वाले) द्वारा प्रतिपादित जैन संस्कृति बताती है कि प्राणिमात्र की रक्षा में ही मानव का हित है । आत्मा की शुद्धि ही कल्याण का प्रमुख साधन है तथा बाह्य शुद्धि से आत्म शुद्धि संभव नहीं है । अहिंसा ही इस संस्कृति की जीवन-शक्ति है । आत्म परिष्कार, आत्म प्रबोधन, आत्म विश्वास, आत्म-चिंतन, पर-चिन्तन-परित्याग. आदि की भावना जैन संस्कृति में सदैव प्रवाहित हैं । महात्मा भगवानदीन ने 'जैन मंथन जगह-जगह' (जैन संस्कृति का व्यापक रूप) शीर्षक निबंध में जो विचार प्रकट किये हैं वे जैन-संस्कृति के मूल तत्वों की ओर संकेत करते हैं । वे लिखते हैं—'संस्कृति लफ्ज को तोड़ फोड़ कर देखने से मुझे तो उसके अन्दर सिवाय इन चीजों के और कुछ न मिला—(१) औरों को न सताना (२) सच बोलना (३) चोरी न करना (४) जरूरत से ज्यादा सामान न रखना और यह कि (५) मर्दों को दूसरी औरतों की ओर और औरतों को दूसरे मर्दों की तरफ बुरी नजर से न देखना । यही पाँच सचाइयाँ मिल कर संस्कृति नाम पाती हैं । जैन संस्कृति के संदर्भ में जैन ऋषियों के कार्य का उल्लेख करते हुए महात्मा भगवानदीन जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उन्होंने (जैन ऋषियों ने) जो कुछ बताया है उसमें कुछ नया न होने पर भी नयापन मिलेगा ही·········इन्होंने कभी यह नहीं कहा कि अमुक देवता को मान लो, तुम तर जाओगे । हाँ समझाते-समझाते अपनी सिद्ध आत्माओं से वह जरूर कहलवाया कि 'देखो ! जब तक तुम हमें पूजते रहोगे या पूजने के खयाल में रहोगे, तब तक हम जैसे नहीं हो सकोगे । हमें

---

1. जैनधर्म ले० पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री, पृष्ठ ३

पूजना छोड़ अपने को पूज कर ही हम जैसे बन सकोगे............जैन ऋषि शुद्धि करने में विश्वास नहीं करते, शुद्ध होने में विश्वास करते हैं.........जैनों के यहाँ पैदा होकर जाति से भले ही जैन कहलाने लगें, जैन लफ्ज के मानों में जैन नहीं हो सकता। जैन बनने की एक ही शर्त है—यह मान लो, जान लो कि हम हैं और आजाद हो सकते हैं, जैसे ही आपने यह माना जाना आप जैन हो गए और जैनों से इज्जत पाने के हकदार भी। जैन के लफ्जी माने हैं—'जीतने वाला, या यों समझिये—जीतने के लिए तैयार या जीतने के लिए चलने वाला यानी आजादी का सिपाही। जैन धर्म का अर्थ है सिपाहियाना धर्म। आखिर मोह की फौज के सामने आ डटने के लिए सिपाही की जरुरत नहीं तो किसकी हो सकती है?"[1]

जैन संस्कृति मानव के चरम उत्थान में विश्वास करती है और वह प्रमाणों के माध्यम से प्रमाणित करती है कि आत्मा अपने प्रयासों एवं साधना से परमात्मा बन सकती है।

ईश्वर के समकक्ष आत्मा को बनाने वाली यही जैन संस्कृति है। अन्य संस्कृतियाँ एक विशिष्ट ईश्वर को मानती हैं और बताती हैं कि जीव ईश्वर नहीं बन सकता है केवल उसकी (ईश्वर की) अनुकम्पा से तथा शास्त्रों में लिखे गए साधनों से उसकी समीपता को उपलब्ध कर सकता है। ऐसी स्थिति में जैन संस्कृति की यह महती देन सदैव स्मरणीय रहेगी।

आत्म-शुद्धि को प्रधानता देने वाली जैन संस्कृति का कहना है कि गंगा, यमुना, आदि सरिताओं में स्नान करने से मुक्ति नहीं मिल सकती अथवा आत्म दाह, बलिदान, जीवन दान आदि मुक्ति के साधन नहीं हैं। जब तक आत्मा की परिशुद्धि न होगी तब तक मोक्ष-प्राप्ति असंभव है। इसी प्रकार कर्मवाद को प्रतिपादित कर इस जैन संस्कृति ने स्पष्ट किया है कि जीव को अपने कर्मों का सहारा लेना होगा। दूसरों के सहारे अथवा किसी विशिष्ट शक्ति की अनुकम्पा से जीव का उद्धार न हो सकेगा। प्रत्येक आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र एवं सक्षम है और उनके फल भोगने में भी वही समर्थ है। जैन संस्कृति यह नहीं मानती है कि कोई विशेष शक्ति जीव को कर्म करने की प्रेरणा देती है और उसके ही संकेतों पर वह कर्म-रत होता है।

जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार आत्मा स्वयं कर्म करती है और स्वयं उसका फल भोगती है तथा स्वयं संसार में भ्रमण करती है और भव-भ्रमण से मुक्ति प्राप्त करती है—

1. धर्म और संस्कृति—(श्री जमनालाल जैन) पृष्ठ ४० तथा ४२

स्वयं कर्मकरोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते ।

जैन संस्कृति के परमाराधक पूज्य आचार्य श्री अमितगति जी ने भी जैन कर्म सिद्धान्त का इस रूप में निरूपण किया है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा । फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् । परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा । निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किं च न । विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुशीम् ।

भावार्थ—आत्मा जैसे कर्म करती है उसके अनुसार उसे शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं। यदि उसे अन्य कृत कर्मों के फल की प्राप्ति मानी जाये तो स्वयं-कृत कर्म निरर्थक हो जाते हैं। वास्तव में स्वयंकृत कर्मों के अतिरिक्त कोई किसी को फल प्रदान करने में समर्थ नहीं है। इस बात को भली भाँति समझकर अन्य द्वारा फल-प्राप्ति की आशा का परित्याग कर देना चाहिये।[1]

चित्त वृत्तियों के परिष्कारार्थ जैन संस्कृति अधिक सजग है।"

जैसो खाय अन्न वैसो होय मन ।
जैसो पिये पानी वैसी होय वानी ।

इस लोकोक्ति की जननी जैन संस्कृति है। परिणाम स्वरूप जैन संस्कृति ने आहार-विहार के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। यही विशुद्ध आहार-विहार मानवीय व्यक्तित्व को परिष्कृत करता है और उसमें सांस्कृतिक चेतना को जागृत करता है।

डॉ० नेमिचन्द्र जी जैन, एम० ए०, डी० लिट् के शब्दों में संस्कृति ही मानवता की प्रतिष्ठायिका है। यही असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, और अनैतिकता से नैतिकता की ओर अग्रसर करती है। मानव हृदय में अहर्निश सम्पन्न होने वाले देवासुर संग्राम के मध्य आसुरी वृत्तियों को दबाकर दैवी वृत्तियों का उद्बोधन संस्कृति की सहायता से होता है। संस्कृति मानवता को परिष्कृत कर उसमें सुविचारों का अंकुर उत्पन्न करती है और यही अंकुर कालान्तर में कल्पपादप बन

---

1. विशेष अध्ययन के लिए, श्री शिखरचन्द्र कोचर द्वारा लिखित 'जैन कर्म सिद्धान्त का मूलमंत्र—स्वावलंबन दृष्टव्य है
(मरुधर केसरी अभिनंदन ग्रन्थ पृष्ठ ७३)

सुस्वादु फलों को प्रदान करता है। अतएव भोजन-पान, आहार-विहार, वस्त्राभूषण, क्रिया-कलाप आदि को सुसंस्कृत कर जीवन यापन करना सांस्कृतिक प्रेरणा का प्रतिफल है। मानवता अपने आन्तरिक भाव तत्वों से ही निर्मित होती है और इन भाव तत्वों का विकास मनुष्य की मूल भूत चेष्टाओं द्वारा होता है।[1]

ईश्वर के सम्बन्ध में जो धारणा जैन संस्कृति ने की है वह बड़ी ही मौलिक है। जैन धर्म के ये ईश्वर संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। सृष्टि के संचालन में न उनका हाथ है न वे किसी का भला बुरा करते हैं। न वे किसी के स्तुतिवाद से कभी प्रसन्न होते हैं और न किसी के निन्दावाद से अप्रसन्न। न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे हम ऐश्वर्य या वैभव के नाम से पुकार सकें, और न वे किसी को उसके अपराधों का दण्ड देते हैं। जैन सिद्धान्तानुसार सृष्टि स्वयं सिद्ध है। जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही सुख-दुःख पाते हैं। ऐसी अवस्था में मुक्तात्माओं और अर्हन्तों को इन सब झंझटों में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं, उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

सारांश यह है कि जैनधर्म में ईश्वर रूप में माने गये अर्हन्तों और मुक्तात्माओं का उस ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे अन्य लोग संसार के कर्त्ता, हर्त्ता ईश्वर में कल्पना किया करते हैं। उस ईश्वरत्व की तो जैन दर्शन के विविध ग्रन्थों में बड़े जोरों के साथ आलोचना की गई है। और इस दृष्टि से जैनधर्म को अनीश्वरवादी भी कहा जा सकता है। उसमें इस तरह के ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है।[2]

[3]अहिंसा तो जैन संस्कृति की जीवन साँस है। इसके माध्यम से वह विश्व-विश्रुत एवं लोक-प्रिय बनी है। यही अहिंसा मानवता को प्रबुद्ध बनाती है और समाजवाद और साम्यवाद को परिपुष्ट करती है। अहिंसा को जैन सस्कृति परम धर्म मानती है। इसी में सत्यं, शिवम् एवं सुन्दरम् संस्कार बने है। अहिंसा प्राणीमात्र को जीने का अधिकार देती है। प्रमाद वश किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना तथा उसके प्राणों का वध न करना ही अहिंसा है। मन-वचन-काय की शुद्धि इस अहिंसा से ही संभव है। जैन-संस्कृति के

1. 'आदिपुराण में भारत' पृष्ठ १९२
2. जैन धर्म ले० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री पृष्ठ १२४
3. अप्रमत्त तया शुभयोगपूर्वकं प्रागाऽव्यारोपणमहिंसा/—

अनुसार अहिंसक न किसी का बुरा विचारता है और न किसी को राग-द्वेषादि की भावना से सन्तप्त करता है। प्राणीमात्र में मैत्री की भावना समुत्पन्न करने वाली यही अहिंसा है। जीओ और जीने दो–यही अहिंसा का चिरन्तन सन्देश है। जैन संस्कृति ने सार्वभौमिक शान्ति एवं मैत्री के लिए अपरीग्रहवाद को भी विशेष महत्व दिया है। अनावश्यक संग्रह ही विषमता, द्वेष, विध्वंस आदि को जन्म देता है। **यदि मानव अनावश्यक संग्रह का परित्याग करदे तो इस विक्षुब्ध संसार में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो सकती है।** अनावश्यक संग्रह ही पाप का प्रमुख कारण है। जैन-संस्कृति कहती है कि संग्रह न करो बल्कि वितरण करो। सौ हाथ से कमाओ और हजार हाथ से बाँट दो, क्योंकि विभाग न करने वाले का मोक्ष में प्रवेश हो ही नहीं सकता। **वस्तुतः जैन अपरीग्रहवाद ही तो समाजवाद है।** सामन्तवाद का विनाशक यही अपरीग्रह-वाद शोषण को नष्ट करता है और प्रजातांत्रिक शासन को सुदृढ़ बनाता है।

अपरिग्रहवाद को अपनाती हुई जैन संस्कृति अनेकान्तवाद की ओर भी विशेष आकर्षित है। यह वाद (अनेकान्तवाद) संकुचित दृष्टिकोण को उदार बनाता है तथा पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन में एक व्यापक माध्यम को प्रस्तुत करता है। पदार्थ में अनेक गुण होते हैं अतः किसी वस्तु के कथन में ही का प्रयोग न करके भी का प्रयोग ही हितकर सिद्ध हुआ है। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि वस्तु स्वरूप के निरूपण में 'स्यात्' अथवा 'कथंचित्' या किसी अपेक्षा से शब्दों का उपयोग करना ही एक व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। यही अनेकान्तवाद विरोधात्मक भावना को दूर करता है एवं स्वस्थ चिन्तन को जागरुकता प्रदान करता है। उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि एक ही पुरुष अपने पुत्र का पिता है, और वही पुरुष अपने पिता का पुत्र है। इस प्रकार के पितृत्व और पुत्रत्व आदि अनेक धर्म एक ही समय में एक ही पुरुष में विद्यमान रह सकते हैं। निश्चयतः अनेकान्तवाद संशयवाद न होकर समन्वयवाद है। सत्य तक पहुंचने का यह सुगम मार्ग है। एकान्तिक दृष्टिकोण से बहुधर्मी पदार्थ को प्रतिपादित करना भ्रमात्मक है और इस प्रणाली से पूर्ण सत्य समझ में नहीं आ पाता है। अनेकान्त (स्याद्वाद) वाद से ही पूर्ण सच्चाई समझ में आ सकती है। फलतः जैन-संस्कृति ने इसे अत्यधिक प्रश्रय दिया है। अहिंसावाद के समान ही अनेकान्तवाद जैन-संस्कृति का अभिन्न अंग है।

श्रमण-संस्कृति के इस संक्षिप्त परिचय से इसकी सामान्य विशेषताओं का हमें परिज्ञान हो जाता है।

जैन संस्कृति की विशेषताएँ

साधारणः जैन संस्कृति की कतिपय विशेषताएँ निम्नस्थ हैं— (१) अहिंसावाद (२) अनेकान्तवाद (३) विश्वमैत्री (४) अपरीग्रहवाद (५) कर्मवाद (६) जीव-स्वातंत्र्य (७) समन्वयवाद (८) ईश्वर सम्बन्धी विशिष्ट धारणाएँ (६) अवतारवाद की अनुपयोगिता (१०) स्वयं निर्मित सृष्टि की परिकल्पना (११) पुनर्जन्म में विश्वास (१२) आत्मा के अमरत्व की स्वीकृति (१३) आचार-विचार की पावनता के प्रति सजगता (१४) बाह्य शुद्धि की तुलना में आन्तरिक विशुद्धि को अधिक प्राधान्य (१५) निवृतिकी प्रधानता (१६) आदर्शवाद की प्रतिष्ठापना (१७) मानव की अतुलित शक्ति में विश्वास (१८) साधना के क्षेत्र में जाति, वर्ण आदि की निस्सारता (१६) सर्वोदय में पूर्ण विश्वास (२०) सामन्तवादी परम्परा का विरोध एवं प्रजातन्त्र में आस्था (२१) राष्ट्रीयता (२२) बहुदेववाद के प्रति अनिष्ठा (२३) मात्र बाह्य क्रिया कांड के प्रति अनास्था (२४) व्यापक पदार्थ मीमांसा (२५) धर्मान्धता एवं रूढ़िवाद का विरोध (२६) मुक्ति सम्बन्धी विशिष्ट मान्यता षट् द्रव्य विषयक मौलिक विचार धारा (२८) चतुर्गति (देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति) से सम्बद्ध उदार निवेचना (२६) साधना के क्रमिक विकास से सन्दर्भित भव्य भावना (३०) लोक-संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति (३१) अन्तर्मानव की पूर्णता में उन्नति के चरम रूप की अवधारणा इत्यादि ।

वैदिक संस्कृति एवं जैन संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन

जैन संस्कृति की कतिपय ऐसी मान्यताएँ और विशेषताएँ हैं जिनके कारण इन दोनों संस्कृतियों में मौलिक अन्तर स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

जितना सूक्ष्म एवं व्यापक विश्लेषण अहिंसा का जैन संस्कृति में हुआ है उतना अन्य संस्कृति में नहीं है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर जिस यज्ञ सम्बन्धी हिंसा को परमधर्म कहा गया है उसे भी जैन संस्कृति में त्याज्य कहा गया है। जैन संस्कृति सदैव अहिंसा वादिनी, सूक्ष्म प्राणियों की भी रक्षा करने वाली और मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों में अहिंसा का सर्वाधिक प्रयोग करने वाली रही है। इस दृष्टिकोण से जैन तत्वज्ञान ने जीव-विज्ञान का अति सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन योग्य विवेचन किया है, जो एक विश्व साहित्य का सुन्दर रोचक और ज्ञानवर्धक अध्ययन है। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि जैन धर्म की अहिंसा सम्बन्धी देन की तुलना विश्व साहित्य में और विश्व संस्कृति में इतर सभी धर्मों की देनों के साथ नहीं की जा सकती है। क्योंकि अहिंसा सम्बन्धी यह देन बेजोड़ है, असाधारण है और मौलिक है। यह उच्च मानवता एवं सरस सात्विकता को लाने वाली है। यह देन मानव को पशुता से उठाकर देवत्व की ओर प्रगति कराती है, अतः मानव इतिहास में यह अनुपम और सर्वोत्कृष्ट देन है। आज के युग के

महापुरुष विश्व विभूति राष्ट्रपिता पूज्य गांधी जी के व्यक्तित्व के पीछे भी इसी जैन संस्कृति से उद्भूत अहिंसा की शक्ति छिपी हुई थी—इसे कौन नहीं जानता है ?"[1]

जैन संस्कृति में ईश्वर की जो कल्पना एवं विवेचना की गई है वह वैदिक संस्कृति से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार जैन संस्कृति ने प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने की जो सक्षमता बताई है वह वैदिक संस्कृति में अनुपलब्ध है। इसके अतिरिक्त जैन संस्कृति के कथनानुसार हरेक जीव अपने किये हुए कर्मों का स्वयं उत्तरदायी है। जिस प्रकार वह कर्म करने में स्वतंत्र है उसी प्रकार फल भोगने मे भी वह पूर्ण आजाद है। वैदिक संस्कृति में जिस अवतारवाद को मान्यता दी गई है उसे जैन संस्कृति ने अमान्य घोषित कर दिया है। इतर संस्कृतियों के समान जैन संस्कृति इस महान सृष्टि को पर निर्मित न मानकर स्वनिर्मित मानती है। वैदिक संस्कृति जिस प्रकार ईश्वर को जगत का कर्ता, संरक्षक एवं विनाशक मानती है, उस प्रकार जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता है।

पदार्थ विज्ञान तथा कर्म सिद्धान्त की जितनी गंभीर विवेचना जैन संस्कृति में की गई है उतनी अन्य संस्कृतियों मे नहीं हो पाई है।

पुनर्जन्म और कर्म ये दोनों सिद्धान्त समस्त आत्मवादी भारतीय दर्शनों में समान रूप से मान्य हैं। प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा उसे फल भोगना पड़ता है इससे कोई इन्कार नहीं करता। पर जैन दर्शन के अनुसार कर्म का स्वरूप, कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न रूप से वर्णित है। जैन दर्शन में कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु वह एक अद्भुत पदार्थ है जो रागी-द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ मिल जाता है। यद्यपि यह पदार्थ भौतिक है, तो भी जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर जीव से बंधता है। अतः वह कर्म कहलाता है। आशय यह है कि जहां अन्य दर्शन राग और द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी उसके संस्कारों को स्थायी मानते है, वहां जैन दर्शन में स्वीकार किया गया कि राग द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ

1. विश्व के विचार–प्रांगण में जैन तत्व ज्ञान की गंभीरता–ले० श्री रतन-लाल संघवी (श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ–पृष्ठ 239)

एक प्रकार का द्रव्य जीव में आता है जो राग-द्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर जीव से बँध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है।[1]

जैन संस्कृति में आत्मा की जिस स्वतंत्रता का उल्लेख किया गया है, उसकी चर्चा वैदिक संस्कृति में नहीं है। आत्मा निष्कलंक होकर परमात्मा हो जाती है यह मान्यता जैन सस्कृति के मूल तत्वों में प्रखरित हुई है लेकिन उपनिषद् में आत्मा को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया गया है। गीता में इसी बात को यों कहा गया है—"ममैवांशो जीवलोके।" गोस्वामी तुलसीदास भी कहते है कि—

ईस्वर अंश जीव अविनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ।
सोइ माया बस भयेऊ गुसाईं ।
बंध्यो कीर मरकट की नाईं ।

कर्म बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा ही परमात्मा हो जाती है यह प्रमाणित करके जैन संस्कृति ने जीव की चरमोन्नति को स्वीकारा है। आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानकर जैन संस्कृति ने एक महान् सत्य को विश्व के दार्शनिकों के सम्मुख रखा है। इस प्रकार जैन संस्कृति की कतिपय मौलिक विशेषताओं की यहाँ संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की गई है। वस्तुतः यह शोध का एक विषय है जिसके माध्यम से जैन संस्कृति के मूल तत्वों का विशद विवेचन हो सकता है।

वैदिक संस्कृति सदैव सचाई की खोज में रही है। फलतः समन्वयात्मक दृष्टि को अपनाते हुए इस संस्कृति ने अन्य संस्कृतियों के तथ्यों को अपनाकर अपनी उदारता का परिचय दिया है। जैन धर्म की अहिंसात्मक भावना का स्वागत करते हुए वैदिक संस्कृति ने कुछ समय के अनन्तर अहिंसा की व्यापक भावना को अपनाया और क्रिया-काण्डों में प्रचलित हिंसा की किसी न किसी रूप में अवहेलना की। इसी प्रकार जैन-संस्कृति के कर्मसिद्धान्त को अंगीकार किया और वैदिक संस्कृति के स्वरों में यह गूँजने लगा कि—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा ।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ।

—गोस्वामी तुलसीदास

1. जैन धर्म और जैन दर्शन : संक्षिप्त इति वृत्त—ले० पं० नरोत्तम शास्त्री (गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ३६१)

अध्यात्म रामायण में बारम्बार यही कहा है कि—

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता ।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अर्थात् सुख-दुःख देने वाला कोई नहीं है—दूसरा सुख-दुःख देता है यह तो कुबुद्धि ही है ।

सचाई का मूल्यांकन अवश्य ही होता है । दुराग्रह से कभी सत्य छिपता नहीं है ।

एक विशिष्ट शक्ति : ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि का विरोध जैन संस्कृति ने हमेशा किया है । शनैः-शनैः जैन दर्शन के इस विरोध को प्रबुद्ध मानवों ने स्वीकार किया एवं तथ्य को पहचाना । गीता में कहा गया है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।
ना दत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।

भावार्थ—परमेश्वर भी भूत प्राणियों के न कर्त्तापन को और न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के संयोग को वास्तव में रचता है । प्रकृति ही इस प्रकार प्रवृत्ति करती है । वह परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है, किन्तु माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित होते हैं ।

(गीता–५—१४–१५)

मृत्यु की गोद में जाते-जाते पंजाब–केसरी लाला लाजपतराय कितनी सजीव और अमर बात कह गए हैं, "क्या मुसीबतों, विषमताओं और क्रूरताओं से परिपूर्ण यह जगत एक भद्र परमात्मा की कृति हो सकता है ? जबकि हजारों मस्तिष्क हीन, विचार तथा विवेक शून्य, अनैतिक निर्दय अत्याचारी, जालिम लुटेरे स्वार्थी मनुष्य विलासिता का जीवन बिता रहे हैं और अपने अधीन व्यक्तियों को हर प्रकार से अपमानित, पददलित करते हैं और मिट्टी में मिलाते हैं । इतना ही नहीं चिढ़ाते भी है । ये दुःखी लोग अवर्णनीय कष्ट, घृणा तथा निर्दयता पूर्ण अपमान सहित जीवन व्यतीत करते हैं; उन्हें जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं मिल पाती । भला ये सब विषमताएँ क्यों है ? क्या ये न्यायशील और ईमानदार ईश्वर के कार्य हो सकते

हैं ?…………मुझे बताओ तुम्हारा ईश्वर कहाँ है ? मैं तो इस निस्सार जगत् में उसका कोई भी निशान नहीं पाता।"[1]

जैन संस्कृति के मूल तत्वों का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है तथा इस संस्कृति से प्रभावित विश्व की अन्य संस्कृतियाँ अपनी-अपनी विचार-धारा को परिष्कृत कर रही हैं तथा भविष्य में करती रहेंगी। यह संस्कृति (जैन-संस्कृति) विशुद्ध रूप में लोक:संस्कृति है जिसमें लोक-जीवन निरन्तर मुखरित है। जीवन की गति-विधि, आचार-विचार, विश्वास-भावनाएँ, लोकाचार, अनुष्ठान, जन्त्र-मंत्र, जादु टोना-टोटके, शकुनापशकुन, स्वप्न विचार आदि इस संस्कृति में उसी प्रकार समाए हुए हैं जिस प्रकार घृत दूध की प्रत्येक बूंद में संचरित रहता है। इन जैन कथाओं मे माता का दुलार है, पति का प्यार है, वधू की लजीली चितवन है, कन्या के विवाह की चिन्ता है, सौत का दुर्व्यवहार है, सास की कठोरता है, ससुर का प्रेम-भरा शासन है, बालकों की क्रीड़ा के अमिट स्वर हैं एवं शिशुओं की मधुर किलकारियाँ हैं। प्रातः काल की लालिमा यहाँ विकसित है और संध्या का सिन्दूर भी यहां अलसाया हुआ है। युवक-युवतियों का प्रेम भी यहाँ अभिव्यंजित है एवं वृद्धाओं की चिन्ताएँ भी टेढ़ी रेखाओं के समान खिची हुई हैं। विवाह का उल्लास भरा वातावरण यहाँ सबको प्रमुदित करता है और कन्या की बिदा सबके नेत्रों को आँसुओं से भर देती है। कहाँ तक कहें जीवन का प्रत्येक क्षण यहाँ गुंजरित है।

---

1. जैन शासन—ले० सेमुरुचन्द्र दिवाकर पृष्ठ ३६

कथा शब्द की समीक्षा एवं व्यापकता

'कथ' (कहना) धातु में 'टाप्' प्रत्यय लगने से कथा शब्द निर्मित होता है। टाप् में से केवल आ शब्द अवशिष्ट रहता है एवं ट् और प् हत हो जाते है। कथा शब्द इतना प्रिय है कि इसके प्रति सबका सहज लगाव है। जीव मात्र जो देखता है उसे कहने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। मानव-जन्म के साथ ही साथ कथा भी इस धरती पर आई है और जब तक इन्सान रहेगा तब तक कथा भी जीवित रहेगी। कहने और सुनने में, कहने का अधिक महत्व है। इसीलिए कथा साहित्य में कहने वाले को विशेषतः अपनाया गया है। मानव कथा कहने सुनने आता है, और कहानी को कहते हुए एवं सुनते हुए इस दुनिया से चला जाता है। देखी हुई घटना को जब तक दर्शक कह नहीं लेता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती है। शनैः शनैः मानव का बुद्धि-कौशल प्रबुद्ध होता गया और कथा के शिल्प-आदि में पर्याप्त विकास हुआ। जन-मानस का प्रतिनिधित्व करने वाली कथा सांस्कृतिक चेतना की प्रबुद्ध मांग है। फलतः संस्कृति को सुरक्षित रखने में कहानी को उपादेयता सर्वथा मान्य है।

"कहानी मनुष्य के लिए अपूर्व विश्रान्ति का साधन है। मनके आयास को हटाने के लिए कहानी मानव-समाज का प्राचीन रसायन है। आज भी इसकी इस विशेषता और उपयोगिता में अन्तर नहीं पड़ा। मानव के मन में जो शाश्वत बाल भाव है, उसकी भाषा, उसका साहित्य, उसकी भावाभिव्यक्ति

कहानी है। संसार का साहित्य कथा-कहानियों से भरा हुआ है। इसी प्रकार लोक-जीवन भी कथा-कहानियों का भंडार है।

लोक कथा और साहित्यिक वस्तु का भेद कालान्तर में विकसित हुआ। वस्तुतः लोक कथा ही समस्त साहित्यिक शास्त्रों की धात्री है। ....किन्तु कथा शब्द का भी अपना इतिहास है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में कथा, आख्यान, आख्यायिका, उपाख्यान इनमें से कोई शब्द नहीं पाया जाता। कथा शब्द वेद में 'कथं' शब्द का पर्यायवाची है। अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी इन चार शब्दों का प्रयोग मिलता है।" [1]

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'कथा' शब्द का प्रथम प्रयोग ऐतरेय आरण्यक में कहानी के लिए हुआ है। गौतमीय वृत्तिकार ने कथा को प्रयोजक वाक्य की संज्ञा दी है। वे पदार्थ के यथार्थ निश्चय कि वा प्रतिपक्ष के पराजय-प्रयोजक वाक्य को ही कथा का रूप मानते हैं। जैसे वाद, जल्प, और वितण्डा। न्याय-सूत्रकार ने कथाकार के लिए आवश्यक गुणों की व्याख्या की है। व्याकरणाचार्य पाणिनी ने कथा कहने की कला में निपुण व्यक्ति को कथिक कहा है। वे कथा के चार भेदों –कथा, विकथा, जनवाद और जनेवाद का उल्लेख करते हैं। पाणिनी ने कथा को प्रबन्ध की बहुमिथ्या एवं अल्प सत्य पूर्ण कल्पना प्रतिपादित किया है। अर्थशास्त्राचार्य कौटिल्य कथा को इतिहास की सीमाओं में समाविष्ट करते हैं। ....अमरकोशकार अमरसिंह ने कथा और आख्यायिका के भेद की चर्चा की है। वे कथा को कल्पना की आधार शिला पर स्थित कर आख्यायिका में ऐतिहासिक-तथ्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति निरूपित करते हैं। .... काव्य व्याकरणाचार्य हेमचन्द्र ने कथाओं के भेदोपभेदों की उपर्युक्त व्याख्याओं को और भी आगे बढ़ाया। .... सर्वदर्शन संग्रह में माधवाचार्य ने पक्ष और प्रतिपक्ष परिग्रह को कथा कहा है। [2]

कथाओं में किसी न किसी रूप में कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन चरित्र-चित्रण, वातावरण उद्देश्य एवं शैली के तत्व विद्यमान रहते हैं। कल्पना के

---

1 लोक कथाएँ और उनका संग्रह कार्य-ले० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल (आजकल-लोक-कथा-अंक. पृष्ठ ६.)

2 भारतीय लोक कथाएँ-उद्भव और विकास (शोध-प्रबंध) ले० डॉ० बसन्तीलाल बम –पृष्ठ ८. ६. से साभार।

सहारे कथावस्तु विशेष आकर्षक बनती है तथा उसमें विविध चमत्कारों की सृष्टि होती है।

पात्रों के सन्दर्भ में यह कहना उचित है कि जैन-कथाओं में मानवीय एवं अमानवीय पात्रों के माध्यम से लोक-जीवन के अनेक तथ्यपूर्ण चित्र अंकित किये जाते हैं।

यथार्थवाद को अंगीकार करती हुई ये जैन कथाएँ आदर्शवाद की ओर ही अधिक आकर्षित हुई हैं। फलतः प्रत्येक कथा एक विशिष्ट आदर्शवाद की स्थापना करती है और मानव-समाज के सन्मुख जीवन की तथ्यपूर्ण अभिव्यंजना को प्रस्तुत कर अपने लक्ष्य को सफल बनाती है।

इन जैनकथाओं का नामकरण बड़ा ही आकर्षक रहता है। कुछ कथाएँ पात्र विशेष के नाम पर चिन्हित की गई हैं तो कतिपय कहानियों का नामकरण 'लक्ष्य' पर आधारित है। व्रतादि से सम्बन्धित कहानियों के शीर्षक विशिष्ट व्रतों पर रखे गए हैं। सामान्यतः ये कहानियाँ एक प्रमुख कथावस्तु को ही स्वयं में गुम्फित करती हैं, लेकिन ऐसी भी कहानियों की एक बड़ी संख्या है जिनमें प्रधान कथावस्तु की साथ अन्य लघु कथाएँ भी आवद्ध रहती हैं। परन्तु ऐसी कहानियाँ प्रमुख कथा की मूलभूत भावना को ही परि-पुष्टि करने में सहायक बनती हैं.।

जैन कथा साहित्य : एक दृष्टि

कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है जिसे सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है । विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी कहानी ही है । कथा के प्रति मानव मात्र का सहज आकर्षण है । फलतः जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें कहानी की मधुरिमा अभिव्यंजित न हुई हो । सत्य तो यह है कि मानव अपने जन्म के साथ कथा को लाया है और वह अपनी जिन्दगी को कहानी कहता हुआ समाप्त करता है । कहने और सुनने की उत्कण्ठा सार्वभौम है । मानव विकास की गाथा में एक ऐसा भी चरण था जब मनुष्य काननों में ही रहकर पशु-पक्षियों के साहचर्य से अपनी नीरस जीवनयात्रा को सरस बनाता था । उस समय हरे-भरे पेड़ उसे छाया देते थे, गगनचारी विहंग मधुर गीत सुनाकर उसकी थकान मिटाते थे और पशु अपनी उल्लासभरी क्रीड़ाओं से उसका मनोरंजन करते थे । इसी सान्निध्य ने मानव को पशु-पक्षियों का मित्र बनाया है और कई युगों के बीत जाने पर भी आज का इंसान इन्हें भूल नहीं पाया है । सुसंस्कृत होने पर मानव ने अपने इस स्नेह को कहानियों के माध्यम से विकसित किया । परिणामतः कथा के आकर्षण को सबल बनाने के लिए प्राकृतिक सुषमा कहानी-साहित्य में एक विशिष्ट उपकरण के रूप में मान्य है ।

हमारे प्राचीनतम साहित्य में कथा के तत्व जीवित हैं । ऋग्वेद में, जो संसार का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है, स्तुतियों के रूप में कहानी के मूलतत्व

पाये जाते हैं। ऋग्वेद के मंत्र १ सूक्त २४।२५, मंत्र ३० (दोनों में मिलाकर) में ऋषि शुनः शेष का वह प्रसिद्ध आख्यान है जिसमें उन्होंने 'वरुण' की प्रार्थना की है, उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। अप्पला-आमेयी के आदर्श नारीचरित्र ऋग्वेद में आए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में ही हमें अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। शतपथ ब्राह्मण की पुरुरवा और उर्वशी की कथा का किस को ज्ञान नहीं है?

ये कहानियाँ उपनिषत्काल से पूर्व की हैं। उपनिषत्काल में आकर इन्हें कुछ नया रूप मिला है। गार्गीयाज्ञवल्क्य संवाद तथा सत्यकाम-जावाल आदि की कहानियां उपनिषद-युग की प्रसिद्ध कहानियां हैं। छान्दोग्य उपनिषद ४। १। ३ में जनश्रुति के पुत्र राजा जानश्रुति की कथा का चित्रण मिलता है। पुराणों में कहानी खुलकर आई है जिससे वेद के गूढार्थ का प्रतिपादन होता है। यह कहना कि पुराणों में वेद की व्याख्या है, निराधार नहीं है। पुराण वेदाध्ययन की कुंजी हैं। वेदों की मूलभूत कहानियां पुराणों की कथाओं में पल्लवित प्रस्फुटित हुई हैं। पुराण कथा कहानियों का अतुल भंडार है।

रामायण और महाभारत में भी बहुत से आख्यान जुड़े हैं। रामायण की अपेक्षा महाभारत में यह वृत्ति अधिक है। एक प्रकार से देखा जाय तो महाभारत कहानियों का कोष है।[1]

इस प्रकार कथासाहित्य की एक प्राचीन परम्परा है जिसमें पंचतंत्र, हितोपदेश, बैताल पंचविंशतिका, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, बृहत्कथा-मंजरी, कथासरित्सागर, आख्यानयामिनी, जातक कथाएँ आदि विशेषतः उल्लेख्य हैं।

कथा साहित्य-सरिता की बहुमुखी धारा के वेग को क्षिप्रगामी बनाने में जैन कथाओं का योगदान उल्लेखनीय है। जैनों के मूल आगमों में द्वादशांगी प्रधान और प्रख्यात हैं। उनमें नायाधम्मकहा, उवासगदसाओ, अन्तगड, अनुत्तरोपपातिक, विपाकसूत्र आदि समग्र रूप में कथात्मक हैं। इनके अतिरिक्त सूयगडांग, भगवती ठाणांग आदि में भी अनेक रूपक एवं कथाएं हैं जो अतीव भावपूर्ण एवं प्रभावजनक हैं। तरंगवती, समराइच्चकहा तथा कुवलयमाला आदि अनेकानेक स्वतन्त्र कथाग्रन्थ विश्व की सर्वोत्तम कथाविभूति हैं। यदि अध्ययन विधिवत् तथा इतिहास-क्रम से इस साहित्य का किया जाय तो कई

1. हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य— ले० डॉ० शंकरलाल यादव पृष्ठ ३३९ तथा ३४०।

नवीन तथ्य प्रकाश में आवेंगे और जैन कथा-साहित्य की प्राचीनता वैदिक कथाओं से भी अधिक पुरानी परिलक्षित होगी। जैनों का पुरातन साहित्य तो कथाओं से पूर्णतः परिवेष्ठित है। डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल 'लोक-कथाएं और उनका संग्रहकार्य' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं—"बौद्धों ने प्राचीन जातकों की शैली के अतिरिक्त अवदान नामक नये कथा-साहित्य की रचना की, जिसके कई संग्रह (अवदानशतक दिव्यावदान आदि) उपलब्ध हैं। किन्तु इस क्षेत्र में जैसा साका जैन लेखकों ने किया वह विस्तार, विविधता और बहुभाषाओं के माध्यम की दृष्टि से भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। 'विक्रम संवत् के आरम्भ में लेकर उन्नीसवीं शती तक जैन साहित्य में कथाग्रन्थों की अविच्छिन्न धारा पायी जाती है। यह कथासाहित्य इतना विशाल है कि इसके समुचित संपादन और प्रकाशन के लिए पचास वर्षों से कम समय की अपेक्षा नहीं होगी।

जैन साहित्य में लोक-कथाओं का खुलकर स्वागत हुआ। भारतीय लोक-मानस पर मध्यकालीन साहित्य की जो छाप अभी तक सुरक्षित है उसमें जैन कहानी साहित्य का पर्याप्त अंश है। सदयवच्छ सावलिंग की कहानी का जायसी ने पद्मावत में और उससे भी पहले अब्दुल रहमान ने संदेशरासक में उल्लेख किया है। यह कहानी बिहार से राजस्थान और विंध्यप्रदेश के गाँव-गाँव में जनता के कंठ-कंठ में बसी है। कितने ही ग्रन्थों के रूप में भी वह जैनसाहित्य का अंग है।[1] जैन कथाओं को विद्वान् लेखकों ने संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि कई भाषाओं में लिखकर एक ओर भाषा की समृद्धि की है और दूसरी ओर जनता की भावना को परिष्कृत किया है। जनपदीय बोलियों में भी जैन लेखकों ने कथासाहित्य को पर्याप्त मात्रा में लिखा है। इन कथाओं में जैन संस्कृति तथा सभ्यता विविध रूप में मुखरित हुई है। लोक-जीवन के बड़े सलौने चित्र इन कहानियों में चित्रित हैं जिन्हें देखकर आज का समाज अपने विगत वैभव का ज्ञान सुगमता से कर सकता है। लोक-जीवन को कई रूपों में अपनाने वाली इन कथाओं में यद्यपि उपदेश की भावना अधिक प्रबल है, फिर भी जैन लेखकों ने इनमें मानव की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों को भी सरस रूप में अंकित किया है। जैनाचार्यों ने इन कथाओं के माध्यम से गहन सैद्धान्तिक तत्वों को सुगम बनाया है तथा श्रावकों एवं साधारण जनता ने इनके द्वारा अपनी सहज प्रवृत्तियों को विशुद्ध बनाने का सतत प्रयास किया

1. आजकल-लोककथा अंक पृ० ११

है। जैन लेखकों ने इन आख्यानों में मानवजीवन के श्वेत तथा श्याम दोनों रूपों को अपनाया है लेकिन आख्यान की परिसमाप्ति पर श्वेत रूप को ही प्रधानता देकर आदर्शवाद को स्थापित किया है।

डॉ० यादव के मतानुसार कथासाहित्य की दृष्टि से जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की अपेक्षा अधिक सफल है। जैन कहानियों में तीर्थंकरों, श्रमणों एवं शलाकापुरुषों की जीवनगाथाएँ मुख्य हैं जिनमें धर्म के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण होता चलता है। इनमें धार्मिक दृष्टि को पुष्ट करने के लिए जैन कहानीकार साधारण कहानी की समाप्ति पर 'केवली' (मुक्ति के अधिकारी साधु) के द्वारा दुःख-सुख की व्याख्या पूर्वजन्म के कर्म के आधार पर कर देता है। बस यहीं पर ये जातकों से भिन्न हैं। जैन कथाओं में भूत, वर्तमान दुःखसुख की व्याख्या या कारण निर्देश के रूप में आता है। वह गौण है। मुख्य है वर्तमान। जब कि बौद्ध जातकों में वर्तमान अमुख्य है। वहाँ बोधिसत्व की स्थिति विगत काल में ही रहती है। इनमें अनेक रूपक कहानियाँ भी हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। एक तालाब है। उसमें खिले हुए कमल भरे हैं। मध्य में एक बड़ा कमल है। चार ओर से चार मनुष्य आते हैं और वे उस बड़े कमल को हथियाना चाहते हैं। प्रयत्न करते हैं परन्तु सफल नहीं होते। एक भिक्षु तालाब के किनारे से कुछ शब्द बोलकर उस बड़े कमल को प्राप्त कर लेता है। यह सूयगड (सूत्रकृतांग) आगम की रूपक-कहानी है। इस रूपक के द्वारा यह समझाया गया है कि विषयभोग का त्यागी साधु राजा महाराजा आदि का संसार से उद्धार कर देता है।

इस प्राचीन कथासाहित्य से, जिसका ऊपर वर्णन हुआ है, तत्त्व ग्रहण कर आगे के लेखकों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक कहानियाँ रची हैं। अपभ्रंश के पउमचरिउ (पद्म-चरित्र) एवं भविस्सयत्त कहा (भविष्यदत्त कथा) नामक ग्रन्थ कहानी साहित्य की अमूल्यनिधि हैं। इनमें अनेक उपदेशप्रद कहानियाँ उपलब्ध होती हैं। अधिक क्या कहा जाए, कथाओं के समूह के समूह जैन आचार्यों ने रच डाले हैं जिनके द्वारा जैनधर्म का प्रचार भी हुआ है और धार्मिक सिद्धान्तों को बल भी मिला है।[1]

इस कथासाहित्य के कथानक बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं और साथ ही साथ व्यापक हैं। जीवन के शाश्वत तत्वों का इनमें निरूपण हुआ है, तथा पात्रों का चरित्र स्वाभाविक रूप में होने के कारण सर्वग्राह्य बन गया है।

1. हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, पृ० ३४६।

कथनोपकथन पात्रानुकूल हैं। वातावरण इन कथाओं की भाव-भूमि को मनोरम बनाता है तथा पात्रों की विचारधारा में वैशिष्ट्य समुत्पन्न करता है। देश काल से सम्बन्धित कथा-सूत्र तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों को प्रदर्शित करते हैं और पाठकों के सन्मुख विविध चित्रावलियों को प्रस्तुत कर अपनी सार्थकता का परिचय देते हैं।[2] शैली में सरलता है, सरसता है तथा एक विशिष्ट परम्परा का अवलंबन है। उद्देश्य के सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि जैन लेखकों ने कथाओं के द्वारा आध्यात्मिक पक्ष की प्रतीति को ही प्रधानता दी है। स्वप्निल आकांक्षाओं से दूर रहकर ही मानव अपने आपको पहिचान सकता है। यही सिद्धान्त सर्वत्र ध्वनित हुआ है। मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम—"सचित्र जैन कहानियां" नामक पुस्तक के दूसरे भाग की भूमिका में लिखते हैं—"परिस्थितियां ही मनुष्य को बनाती या बिगाड़ती हैं, यह स्थूल सत्य है। इसमें तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य ही अपना ब्रह्मा-स्रष्टा, विष्णु-संरक्षक व महेश संहारक है। उसकी सावधानी या असावधानी पर उसका सारा भावी जीवन अवलंबित होता है। वही अपनी धरोहर को खोता है,[1] सुरक्षित रखता है या सुसज्जित करता है, यह उसके ही कर्तव्य पर

1. विचारों के प्रकट करने के ढंग को हम शैली कह सकते हैं। साधारणतः लिखने और कहने की गति को यदि शैली कहा जाय तो ठीक ही है। "प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटो का मत है—जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है। —बर्नार्ड शॉ का विचार है कि प्रभावपूर्ण व्यक्ति ही शैली का अर्थ और इति है। हमारी समझ में शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। शैली अंग्रेजी 'स्टाइल' का अनुवाद है।"

—हिन्दीसाहित्य कोश—भाग २ पृ० ३८७

जैन कथाओं की शैली एक परम्परा को अपनाए हुए है जिसमें भावों को सहज रूप में अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। कहावतों, मुहावरों एवं सूक्तियों का समावेश होने से यह शैली बड़ी सरस बन गई है। प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ में मंगलाचरण-स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति-परक कुछ पंक्तियां होती हैं तथा कथा की समाप्ति में भी भगवत्-भक्ति की कामना की जाती है:—"संसार का हित करने वाले जिनेन्द्र

आधारित है । प्रस्तुत जैन कहानियां पाठक के समक्ष यही नवनीत प्रस्तुत करती हैं। इन कहानियों में नायक के पूरे जीवन-चित्र प्रस्तुत नहीं हैं अपितु वे ही हैं जिनमें वह अपने कर्तव्य से या तो बहुत अधिक निखर उठा है या वह काला स्याह हो गया है। जीवन का पूर्वार्ध या पश्चिमार्ध यत्र-तत्र आया भी है तो वह एक संयोजक श्रृंखला के रूप में ही उपस्थित हुआ है। इन कहानियों में एक ओर त्याग साधना व वैराग्य की प्रचुरता है तो साथ ही साथ जीवन के व्यावहारिक पहलुओं को छूने वाले भी अनेक प्रकरण हैं जिनमें आध्यात्मिकता और भौतिकता का समवेत स्वर है।"

'कहानियों में कथोपकथन के माध्यम से केवल मनोविनोद ही नहीं होता अपितु उनमें जीवन की सरस अनुभूतियों के साथ संस्कृति, सभ्यता, दर्शन व धर्म का निचोड़ भी होता है। सामान्यतया दर्शन में तार्किक उलझन, धर्म में आचरणीय पहलुओं की विविधता तथा संस्कृति व सभ्यता में प्राचीनता व अर्वाचीनता का विवाद होता है । जिज्ञासु व्यक्ति उनके गहरे विवेचन को पढ़ता है पर उसमें से उसके हस्तगत बहुत थोड़ा होता है। कई बार तो दो-चार डुबकियाँ लगाने पर भी व्यक्ति को खाली हाथों लौटना पड़ता है । कुछ इने-गिने व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो उस विवेचन में मुक्ता पा सकते हैं। किन्तु संस्कृति, दर्शन व धर्म कुछ एक व्यक्तियों की ही धरोहर नहीं होती । वे तो प्रत्येक व्यक्ति की पवित्र निधि होते हैं, जिनके बिना एक कदम चलना भी असंभव होता हैं। ऐसी स्थिति में उनका सरल मार्ग कहानीसाहित्य ही होता है। इस मार्ग से दर्शन के दुरूह प्रश्न, संस्कृति का गहरा चिन्तन व धर्म के विविध पहलू सरलता से हृदयंगम किये व कराये जा सकते हैं। इसमें उन सब की बोलती हुई आत्मा होती है। मित्रसम्मत व कान्तासम्मत उपदेश भी इसी

भगवान् को प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार कर शुभ नाम के राजा की कथा लिखी जाती है।" कथा की परिसमाप्ति पर लेखक की कामना इस प्रकार अभिव्यक्त होती है:-—'जिनके वचन पापों के नाश करने वाले हैं, वे सर्वोत्तम हैं और संसार का भ्रमण मिटानेवाले हैं, वे देवों द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् मुझे तब तक अपने चरणों की सेवा का अधिकार दें, जब तक कि मैं कर्मों का नाशकर मुक्ति प्राप्त न कर सकूं।'

आराधनाकथाकोश-तीसरा भाग पृष्ठ ६१। पद्यात्मक कथाओं की शैली कुछ पृथक् होती है। चम्पू शैली में लिखी हुई कथाओं की शैली अधिक प्रभावोत्पादक मानी गई है।

माध्यम से प्राप्त होता है जो श्रुति में मधुर, आचरण में सुकर व हृदय को छूने वाला होता है।"

मुनि जी का यह कथन प्रायः समस्त जैन कथाओं के सम्बन्ध में मान्य कहा जा सकता है। सांसारिक वैभव-विलास से विरक्ति उत्पन्न करने के लिए जैन- कथाएँ अधिक प्रयोजनवती सिद्ध हुई हैं। इनमें जिन सूक्तियों को समाविष्ट किया गया है वे भी इस प्रमुख मन्तव्य को सार्थक बनाती हैं।

जैन कथाओं का वर्गीकरण—

जैन-कथाओं का एक विशाल भण्डार हैं जिसे निश्चित रूपों में विभक्त करना सरल नहीं है फिर भी विद्वानों ने कथानकों, पात्रों, एवं उद्देश्यों के अनुसार कथाओं का वर्गीकरण किया है। कथा-साहित्य-विशारदों ने अभिप्रायों के आधार पर इन्हें विभाजित करने का प्रयत्न किया है। दीर्घनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में एक स्थान पर कथाओं के जो अनेक भेद दिये हैं वे इस प्रकार हैं—(१) राजकथा (२) चोरकथा (३) महामात्यकथा (४) सेनकथा (५) भयकथा (६) युद्धकथा (७) अन्नकथा (८) पानकथा (९) वस्त्रकथा (१०) शयनकथा (११) मालाकथा (१२) गंधकथा (१३) ज्ञातिकथा (१४) यानकथा (१५) ग्रामकथा (१६) निगमकथा (१७) नगरकथा (१८) जनपदकथा (१९) स्त्रीकथा (२०) पुरुषकथा (२१) शूरकथा (२२) विशिखाकथा (बाजारू गप्पें) (२३) कुंभस्थानकथा (पनघट की कहानियां) (२४) पूर्वप्रेतकथा (गूजरों की कहानियाँ) (२५) निरर्थककथा (२६) लोकाख्यायिका (२७) समुद्राख्यायिका (दीर्घ निकाय १।८)[1]

साधारणतः जैन कथाओं को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) धर्म सम्बन्धी कथाएं।
(२) अर्थ सम्बन्धी कथाएं।
(३) काम सम्बन्धी कथाएं।
(४) मोक्ष सम्बन्धी कथाएँ।

इस वर्गीकरण में भी मोक्षविषयक-भावना सर्वत्र विद्यमान हैं। इसके अन्तर्गत विरक्ति, त्याग, तपस्या, पूजन, आदि धार्मिक चिंतन एवं कृत्य स्वयं

1. लोक-कथाएं और उनका संग्रहकार्य (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल)— आजकल-लोक-कथा अंक पृष्ठ ९।

ही सन्निहित हैं, क्योंकि जैन कथाओं का लक्ष्य जैन धर्म की महिमा को बताना तथा जैनधर्म-प्रतिपादित आचार का प्रचार करना है ।

प्रकारान्तर से जैन-कथाओं को इस प्रकार भी—वर्गीकृत किया जा सकता है (१) धार्मिक (२) ऐतिहासिक (३) सामाजिक (४) उपदेशात्मक (५) मनोरंजनात्मक (६) अलौकिक (७) नैतिक (८) पशु-पक्षी संबंधी (९) गाथाएँ (१०) शाप-वरदान विषयक (११) व्यवसाय सम्बन्धी (१२) विविध (१३) यात्रासम्बन्धी (१४) गुरु शिष्य सम्बन्धी (१५) देवीदेवता सम्बन्धी (१६) शकुनापशकुन सम्बन्धी (१७) मन्त्र-तंत्रादि संबंधी (१८) बुद्धिपरीक्षण सम्बन्धी (१९) विविध जाति-वर्ग सम्बन्धी (२०) विशिष्ट न्याय विषयक (२१) काल्पनिक कथाएं एवं (२२) प्रकीर्णक ।

कतिपय कथाकोशों का संक्षिप्त परिचय—

(१) कथाकोश (कथानककोश अथवा कथाकोश प्रकरणम्)—उसके रचयिता श्री वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि हैं । प्राकृत के इस ग्रन्थ में २३९ गाथाएं हैं । इस ग्रन्थ की संस्कृतटीका में गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है । यत्र-यत्र दिए गए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के उद्धरणों से यह कृति विशेष आकर्षक बन गई है ।

(२) कथाकोश—इसके रचयिता का नाम अज्ञात है । १७ कथाएँ इसमें संग्रहीत हैं । इन कहानियों में लोक-कथा तत्त्व विशेषतः द्रष्टव्य है । संस्कृत में लिखित इस कृति में प्राकृत गाथाओं का भी समावेश है ।

(३) कथाकोश (कथारत्नकोश) संवत् ११५८ में लिखित कृति के रचयिता श्री प्रसन्नचन्द्र के शिष्य श्री देवभद्र हैं । मुक्तिमार्ग के विवेचन के लिए आदर्श कथाओं को प्राकृत में लिखा गया है तथा यत्र-तत्र संस्कृत के पद्यों को भी उद्धृत करके कथा-कोशकार ने बड़ी निपुणता से गृहस्थ के कर्तव्यों को प्रतिपादित किया है ।

(४) कथाकोश (भरतेश्वरबाहुबलि-वृत्ति)—प्राचीन जैन-साहित्य में निर्दिष्ट धार्मिक महापुरुषों की जीवनकथाओं को प्राकृत में लिखकर लेखक ने अपनी कथा प्रणयन अभिरुचि का सुन्दर परिचय दिया है । प्राकृत की इस रचना में संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है । यह कृति संवत् १५०९ में निर्मित हुई थी ।

(५) कथाकोश (व्रतकथाकोश)—संस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्री श्रुतसागर है । व्रतों से सम्बन्धित कथाएं इसमें संग्रहीत हैं तथा विक्रम

संवत् की १६ वीं शताब्दी की यह कृति है। इस कृति के रचयिता के गुरु विद्यानंदि थे।

(६) कथाकोश—इसमें प्राकृत में लिखित १४० गाथाएं है। कृति के लेखक श्रीविजयचन्द्र हैं।

(७) कथामणि-कोश (आख्यानमणिकोश)—प्राकृत में रचित इस पद्यात्मक ग्रन्थ के रचयिता कवि श्रीदेवेन्द्रमणि हैं जिन्हें नेमिचन्द्र भी कहा गया है। श्री देवेन्द्र अपनी सरल शैली के लिए प्रख्यात हैं। यह वृहत् ग्रन्थ ४१ अध्यायों में समाप्त हुआ है। इस कोश की संस्कृतटीका के लेखक श्री-जिनचन्द्र के शिष्य श्रीअमरदेव हैं। टीका संवत् ११९९ में लिखी गई थी।

(८) कथामहोदधि (कर्पूरप्रकरण अथवा सूक्तावली)—१७९ छन्दों में लिखा गया यह ग्रन्थ धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों की विवेचना करने में पूर्णरूपेण सक्षम माना गया है। प्रत्येक छंद में एक अथवा दो कथाओं का उल्लेख हुआ है। इसके रचयिता श्रीवज्रसेन के शिष्य श्रीहरिषेण हैं।

(९) कथारत्नसागर—इसमें १५ तरंग हैं। श्रीदेवभद्र सूरि के शिष्य नरचन्द्र सूरि इस 'सागर' के निर्माता हैं।

(१०) कथारत्नाकर—संस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीउत्त-मर्षि हैं।

(११) कथारत्नाकर—संवत् १६५७ में रचित इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीकमलविजय के शिष्य हेमविजय गणि हैं। इसमें संग्रहीत कथाओं में से कुछ तो सुनी हुई कथाएं है और कुछ काल्पनिक हैं। दस तरंगों में २५८ कथाओं की विस्तृत चर्चा हुई है। सरल संस्कृत में लिखी गई यह कृति बड़ी सरस एवं नैतिकता की शिक्षिका है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरातन हिन्दी एवं प्राचीन गुजराती के उद्धरणों को पर्याप्त संख्या में अपनाया गया है।

(११) कथार्णव (ई० सन् की १३ वीं शताब्दी में लिखित) – प्राकृत की रचना के कवि धर्मघोष हैं। जैन तपस्वी वीरों की कथाओं के साथ-साथ अन्य उपदेश-कथाओं को भी इसमें उचित स्थान मिला है।

(१२) कथावली—प्राकृत गद्य में लिखे इस वृहत् ग्रन्थ के लेखक श्रीभद्रेश्वर हैं। इसमें ६३ शलाका-पुरुषों के वृत्तान्तों के साथ अन्य महात्माओं के चरित्रों का कथात्मक रूप में उल्लेख हुआ है।

(१३) कथासमास (उपदेश माला)—इसके लेखक श्री जिनभद्र हैं। इसमें संग्रहीत कथाएँ प्राकृत में हैं, जिनका लक्ष्य मानवों को निवृत्तिमार्ग की ओर आकर्षित करना है।

(१४) कथा संग्रह—(कथाकोष) इसके रचयिता श्री राजशेखर मलधारी (श्री तिलकसूरि के शिष्य) हैं। इसकी सरस कथाएं सुगम एवं सामान्य संस्कृत गद्य में लिखी हुई हैं । कथाओं के मध्य संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के छन्दों को उद्धृत किया गया है। सांसारिक चातुर्य के साथ सच्चरित्र के प्रचारार्थ लेखक ने इन कथाओं को लिखा है। विषय वैविध्य इन कहानियों में परिलक्षित है। एक बड़ी कथा के अन्तर्गत अन्य कथाओं का भी उल्लेख होने से इसे अन्तर्कथा-कोश भी कहा गया है।

इन कथाकोशों के अतिरिक्त सर्वश्री वर्धमान, चन्द्रकीर्ति, सिंह सूरि, सकलकीर्ति, पद्मनन्दि तथा रामचन्द्र लिखित कथाकोशों का भी कतिपय विद्वानों ने उल्लेख किया है।

जिनरत्न कोष में अनेक कथासंग्रहों का और भी उल्लेख हुआ है जिनमें से कतिपय ये हैं:—

हेमाचार्य का कथासंग्रह, आनन्द सुन्दर का कथाकोष एवं सर्वसुन्दर का कथासंग्रह। इनके अलावा कथा कल्लोलिनी, कथासंचय, कथासमुच्चय आदि कथा-संग्रहों का भी यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है।[1] शोध विशारदों को इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में अन्वेषण करना चाहिये। यदि विधिवत् जैन-शास्त्र-भण्डारों के ग्रन्थों की तालिका तैयार की जाय तथा पूर्ण धैर्य के साथ कथा-ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाय तो जैन कथासाहित्य सम्बन्धी अनेक तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। इस सन्दर्भ में श्रम, लगन एवं धन इन तीनों की समन्विति सर्वदा सर्वमान्य है।

जैन-कथाओं का देशाटन

मानवों के आवागमन तथा यातायात की सुविधाएं साहित्य के परि-भ्रमण में सहायक बनती हैं। उपदेशक जब एक प्रान्त से आगे बढ़कर दूसरे प्रान्तों में उपदेशार्थ जाते हैं तब उनके माध्यम से उनका कण्ठस्थ साहित्य उनके देशों की धरती को स्पर्श करता है तथा श्रोता-गण सुनकर उसे अपनी विचार-धारा के अनुसार विचित्र रंगों से रंजित करते हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों के अतिरिक्त जैन कथाएं पाश्चात्य देशों में भी गईं और वहां के निवासियों ने इनका भव्य स्वागत किया। शनैः शनैः जैन कथाओं में परिवर्तन आया तथा विशिष्ट धारा की सांस्कृतिक चेतना ने उन्हें प्रभावित किया। पात्रों के

1. विशेष अध्ययन के लिए देखिए श्रीहरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोष को डा० उपाध्ये लिखित अंग्रेजी में भूमिका।

नाम बदले गए, स्थानों के नामों में भी परिवर्तन हुआ, वेश-भूषा परिवर्तित हुई, लेकिन मूल अभिप्राय ज्यों के त्यों रहे। संकेत रूप में यहाँ सुगन्धदशमी कथा की संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है। डा० हीरालाल जैन एम० ए०, डी० लिट् ने सम्पादित करके इसे एक नये रूप में प्रस्तुत किया है। विद्वान सम्पादक ने इस कथा के अपभ्रंश, संस्कृत, गुजराती, मराठी एवं हिन्दी रूपों को भी पाठकों के सामने रखा है। परिशिष्ट में मत्स्यगंधा की कथा (महाभारत से) नागश्री सुकुमालिका कथा (नायाधम्मकहाओ से) श्रावक सुता कथानक (श्रावकप्रज्ञप्ति टीका से) तथा लक्ष्मीमती कथानक (हरिवंश पुराण से) को भी रखा गया है। इन सबके तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हो सकता है कि एक ही कथा में किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं एवं स्थानीय मान्यताएं किस रूप में कथा की मूल भावना को प्रभावित करती हैं। इसी सुगन्धदशमी कथा की उपलब्धि (साधारण परिवर्तन के साथ) फ्रेंच और जर्मन कथा-साहित्य में हुई है। इससे प्रकट होता है कि कथाओं की भी यात्राएं बड़ी लम्बी होती हैं। साहित्य का यह देशाटन बताता है कि संभवतः यूरोप और भारत के बीच इस कथानक (सुगन्धदशमी कथा की कथावस्तु) का आदान-प्रदान हुआ है। मैक्समूलर व हेर्टल आदि अनेक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि भारतीय कथाओं का यह अटूट प्रवाह अति प्राचीन काल से पश्चिम की ओर प्रवाहित होता रहा है। जिसके फलस्वरूप वेदकालीन, जातक सम्बन्धी तथा पंचतंत्र हितोपदेश व कथासरित्सागर आदि भारतीयआख्यान-साहित्य में निबद्ध अनेक लोक-कथाएं पाश्चात्य देशों में जाकर, वहाँ के वातावरण के अनुकूल हेर-फेर सहित प्रचलित हुई हैं। उक्त यूरोपीय कथा के सबसे प्राचीन लेखक चार्ल्स परोल्ट का जीवनकाल सन् १६२८ से १७०३ तक माना गया है। उनके पूर्व इस कथानक के यूरोप में प्रचलित होने का कोई प्रमाण हमारे सम्मुख नहीं है। इसकी तुलना में भारत की सुगन्धदशमी कथा की परम्परा अति प्राचीन है। इसका मराठी अनुवाद जिनदास द्वारा सन् १४२४ के लगभग, संस्कृत अनुवाद श्रुतसागर द्वारा व गुजराती अनुवाद जिनदास द्वारा सन् १४५० के लगभग, एवं अपभ्रंश की मूल रचना सन् ११५० ई० के लगभग हुई पाई जाती है। अतः कोई आश्चर्य नहीं जो अन्य भारतीय कथाओं के सदृश इस कथा का भी देशान्तर गमन हुआ हो, जिसका प्रचार-क्रम गवेषणीय है।[1]

---

1. सुगन्धदशमी कथा (सम्पादक डा० हीरालाल जैन) प्रस्तावना पृष्ठ १५

धैर्यपूर्वक यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हजारों ऐसी जैन-कथाएं उपलब्ध होंगी जो सामान्य परिवर्तनों के साथ पाश्चात्य कथासाहित्य में गुम्फित हैं।

जैन-कथा-साहित्य का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

भाषा विज्ञान की दृष्टि से जैनकथाओं का कम महत्व नहीं है। यदि प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तथा कतिपय कथाओं के विविध अनुवादों को सामने रखा जाय तो पाठक को ज्ञात होगा कि किस प्रकार शब्दों के रूप परिवर्तित होते हैं तथा प्राकृत का एक शब्द संस्कृत में आकर किस रूप में उच्चरित होता है तथा वही शब्द अपभ्रंश आदि भाषाओं में प्रयुक्त होकर कौनसी विकृति की परिधि में आबद्ध होता है? लेकिन इस प्रकार भाषावैज्ञानिक अध्ययन उन अध्येताओं को ही प्रिय लगेगा जो बहुभाषाविद् हैं तथा जिनकी भाषाविज्ञान में विशेष अभिरुचि है। शब्दों के अर्थ परिवर्तन को समझने के लिए ये कथाएं बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

जैन कथाओं के अनुशीलन से हमें हजारों ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनमें जैनों की सांस्कृतिक भावना अभिव्यंजित है। इस प्रकार के शब्द उस युग की चेतना को भी ध्वनित करते हैं, जब कि जैनों की समृद्धि एवं त्याग प्रवृति चरम-सीमा को छू रही थी।

यहाँ कुछ ऐसे विशेष शब्द दिये जाते हैं, जो जैन-कथाओं में प्रयुक्त हुए हैं तथा इनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

१ न्योता (निमन्त्रण) २ कोहवर (कौतुकगृह) ३ मंडवा (मंडप) ४ कंकन (कंकण) ५ सिन्होरे (सिन्दूरदानी) ६ पितरनवेती (पितृ-निमंत्रण) ७ बदरिया (बद्दलिका) ८ पोखर (पुष्कर) ९ गौरा (गौर) १० कौआपंछी (काक-पक्षी) आदि।

जैन-ग्रन्थों में आए हुए निम्न कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ जैनाम्नाय के अनुकूल ही मान्य होगा। यह विशिष्ट अर्थ शब्दों की अभिव्यंजना शक्ति का द्योतक है:—

१. तोक—पुत्र।
२. दरवल्ल—ग्राम-प्रधान अथवा प्रासाद।
३. गवासन—जाति-बहिष्कृत।
४. प्रतिमा—त्याग की एक सीमा।
५. लेश्या—भावना।

६. अणुव्रत—पापों का कुछ सीमा तक त्याग ।
७. महाव्रत—पापों का सर्वथा त्याग ।
८. सम्यग्दर्शन—देव-शास्त्र-गुरु के प्रति पूर्ण विश्वास ।
६. प्रातिहार्य—वैभवविशेष ।
१०. दिव्यध्वनि—केवली के मुख से निकली हुई प्रवचन ध्वनि ।
११. सत् उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त पदार्थ ।
१२. जिन—जिनेन्द्रदेव, (जैनों के आराध्यदेव) ।
१३. अनेकान्तवाद—विभिन्न दृष्टिकोण । यह जैनधर्म का प्रमुखवाद है, जो सम्बन्ध का प्रतीक है एवं इसके अनुसार एक द्रव्य में अनेक धर्मों की स्थिति मानी जाती है ।
१४. धर्म-द्रव्य—अस्थिति का माध्यम, जो जीव और पुद्गल को चलने में सहायता करता है ।
१५. अधर्म-द्रव्य—स्थिति का माध्यम जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायता करता है ।
१६. आकाश—यह सभी द्रव्यों को स्थान देता है ।
१७. कालद्रव्य—जो वस्तुमात्र के परिवर्तन में सहायक है ।
१८, आश्रव—कर्मों का जीव के निकट आना ।
१९. बंध—जीव और कर्म का परस्पर मिल जाना ।
२०. संवर—आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं ।
२१. पाक्षिक-श्रावक—जो एक देश हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म को स्वीकार करने का इच्छुक हो ।
२२. क्षपणक—जैन साधु ।

जैन-कथाओं में चित्रित लोक-संस्कृति

जैन-कथाओं में संस्कृति का मनोरम चित्रण मिलता है । वस्तुतः लोक संस्कृति को अपनाने के कारण ही यह कथाएँ विशेष लोकप्रिय बनी हैं । मानव के विश्वास, आराध्य देवी-देवता, वेश-भूषा, व्यवसाय, मान्यताओं आदि का विषद चित्रण इन कथाओं में हमें सुगमता से उपलब्ध होता है । कथाकारों ने जनसाधारण को प्रभावित करने के लिए कथाओं की सर्जना की है और ग्रामों के वातावरण में रहकर अपनी साहित्य-साधना को श्रेयस्कर बनाया है ।

संस्कृति, अन्तर की तथा बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति है । इसके अन्तर्गत हमारे जीवन के सभी भौतिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं । वास्तव में हर समाज के मूल में कुछ नैतिक स्तर, धार्मिक विश्वास,

संस्कार, सामाजिक नियम तथा अन्य सामाजिक क्रिया-कलाप होते हैं जिनको सामाजिक तथा धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती है। इन सबकी पृष्ठ-भूमि में युग-युगों से चला आता इतिहास छिपा रहता है। हर देश तथा समाज की उत्कृष्ट संस्कृति की आधारशिला वहाँ का लोक-समाज होता है। इसी लोक-समाज की संस्कृति लोक-संस्कृति कहलाती है। लोक-संस्कृति पंक्ति-बद्ध कोई लेखा नहीं अपितु एक मानसिक धरोहर तथा विश्वास है[1] जो लोक-मानव को युगों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में मिलती रही है। यद्यपि सभ्यता, इस संस्कृति में सामयिक परिवर्तन करती रहती है, परन्तु लोक-मानव इस सभ्यता की चालू संस्कृति को मानता है तथा मनाना चाहता है। यदि यह परिवर्तन करता भी है तो परिस्थितिगत विवशता के कारण ही करना पड़ता है। इसीलिए किसी भी देश की लोक-संस्कृति में स्थायित्व होता है।

हमारे देश में लोक-संस्कृति धर्मपरायण है तथा आदर्शवाद के तत्वों को निरन्तर अपनाती रहती है। जैन लोक-संस्कृति में विरक्ति, करुणा, उदारता, सेवा, त्याग, अहिंसा, कर्मवाद, अनेकान्तवाद आदि के मधुर स्वर चिरकाल से ध्वनित होते रहे हैं।

पाप-पुण्य एवं धर्म-अधर्म का शाश्वत संघर्ष है। अतः अत्याचार तथा अनाचार के विरोध में सदाचार और मानवता सफलमनोरथ सिद्ध हुई हैं। फिर भी दुष्टों का अभाव होना कल्पनातीत है। श्यामता न रहे तो श्वेतत्व आकर्षणहीन बन सकता है। इसी प्रकार दुर्जनत्व सज्जनता के प्रभुत्व में अभिवृद्धि करता है। ऐसी स्थिति में इन कथाओं की कथावस्तु दोनों को लेकर आगे बढ़ती है, लेकिन परिसमाप्ति पर दुर्जनता प्रभावहीन बनकर स्वयं नष्ट हो जाती है और सौजन्य दिनकर की भांति प्रकाशित होता है। आजीविका के अनेक साधन हैं फिर भी व्यापार तथा खेती की प्रधानता प्राचीनकाल में उल्लेख्य है। नौकरी के प्रति जनता का अधिक आकर्षण न था। धन कमाकर मानव दान के प्रति उत्सुक रहता था, एवं धार्मिक कृत्यों में जी खोलकर व्यय करता था। सहयोग की भावना वैमनस्य को पुष्पित न होने देती थी। समस्त धर्मों के प्रति अनुराग होने पर भी जनता स्वकीय धर्म-साधना में सजग रहती थी। समाज सुगठित था, तथा विरोधी-तत्वों का दमन सामूहिक रूप में करता था। इस सम्बन्ध में आराधना-कथा-कोष, भाग-१-२, जैन-कहानियाँ, मोक्षमार्ग की कहानियाँ, एवं पुण्याश्रव कथा-कोष द्रष्टव्य हैं। नाना प्रकार के

1. खड़ी बोली का लोक-साहित्य (डा० सत्या गुप्ता) पृष्ठ ३३१

कुव्यसनों में भी कुछ लोग संलग्न रहते थे लेकिन उनकी संख्या अल्प थी। सदाचार को सुरक्षित रखने के लिए मानवों के सन्मुख शील की गरिमा प्रस्तुत की जाती थी। परिणामस्वरूप युवक एक-पत्नीव्रती थे तथा युवतियाँ स्वपति-परायण थीं। (देखिये शीलव्रती सुदर्शन एवं नीली और अंजना सती की कथायें)। नारी का प्राचीन युग में विशेष सम्मान था तथा समाज इन्हें समय-समय पर आदर देकर आदर्श उपस्थित करता था। (सती सीता की कथा इस संदर्भ में विशेषतः उल्लेख्य है।) युवतियाँ स्वयं धर्म-परायण थीं और अपने पति को भी धार्मिक बनाने में पूर्ण सहयोग देती थीं (देखिये भावदेव और नागला शीर्षक कहानी)। बलि प्रथा प्रचलित अवश्य थी, लेकिन जैन-कथा-साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि जैनों ने इसका सदैव विरोध किया है। (देखिये जयसेन राजा की कथा, आराधना कथा-कोष तीसरा भाग।)

यद्यपि वैवाहिक बन्धनों में उदारता प्रदर्शित की जाती थी फिर भी जैन-अजैनों का विवाह सम्बन्ध प्रायः वर्जित था। (नीली की कथा, आराधना-कथा-कोष दूसरा भाग)। मंत्र-शक्ति पर जनता का प्राचीन काल में अधिक विश्वास था। तपस्वी मंत्रों की साधना से गगनचारी बन जाते थे तथा शारीरिक व्याधियों को भी शांत कर देते थे। (पाराशर मुनि की कथा, आ० क० कोश भाग २।) हत्या के अपराध में दोषी को प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। (सुकुमाल मुनि की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। बहुपत्नी प्रथा का भी प्रचलन था। (सुकोशल मुनि की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। सम्पन्न व्यक्ति पुत्री के विवाह के समय दामाद को दहेज में बहुत कुछ धन सम्पत्ति दिया करते थे। (मृगसेन धीवर की कथा आ० का० कोश भाग दूसरा)। बृहत्कथा-कोश की कथायें ११-१३६, १३-३१, २४-३८ ७८-८७ बताती हैं कि अपराधी को गधे पर बैठाकर गाँव-नगर में घुमाया जाता था तथा उसकी सम्पत्ति को राज्याधिकार में कर लिया जाता था। काले वस्त्रों तथा काले बैलों को पुरस्कार में देना अपमानजनक समझा जाता था। बृहत् कथा-कोश कथा-संख्या १५७-१०

भक्तामर-कथाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव के परम श्रद्धालु जैन, विपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए तथा सांसारिक वैभव की प्राप्ति के हेतु मंत्रों की सिद्धि करते हैं तथा विजया, प्रभावती, अजिता ब्राह्मी, जलदेवी, महिदेवी, वनदेवी, महादेवी, रोहिणी देवी, घृतदेवी, पद्मावती देवी आदि अनेक देवियों की प्रसन्नता प्राप्त कर सफल मनोरथ होते हैं। इन

कथाओं के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि पुरातन काल में लोक-जीवन विशेष समृद्ध एवं सुखमय था। कृषि से कृषकों को पर्याप्त आय होती थी तथा खाद्य पदार्थ अत्यल्प मूल्य में प्राप्त हो जाते थे। सब ओर समृद्धि परिलक्षित होती थी। धनिक हीरा-पन्ना मोती आदि के सुन्दर आभूषण पहनते थे तथा महिलाएँ भी विविध सोने-चाँदी के अलंकारों से अपने मनोरम शरीर को समलंकृत किया करती थीं। अनेक प्रकार के सुरभित लेपों के प्रयोग से इन रमणियों का सौन्दर्य सदैव आकर्षक बना रहता था। घी-दूध की कमी न थी तथा साधारण ग्रामवासी भी सैंकड़ों गायों को रखता था। उपासकदशांग सूत्र में वर्णित आनन्द आदि श्रावकों के यहाँ हजारों गायें थीं। दूध, दही, घी, शक्कर, विविध दालें, सुगंधित चावल, आचार, मिठाइयाँ आदि भोजन के प्रमुख तत्व थे। रंगीन वस्त्रों के प्रति कामिनियों की अधिक रुचि थी। बालक बालिकाएँ भी अलंकारों से सुसज्जित रहते थे। रेशमी वस्त्र मनुष्य अधिक पहनते थे। सुन्दर गृहों में रहकर सम्पन्न व्यक्ति अपने समीपवर्ती मित्रों को भी सुखी बनाने का प्रयत्न करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर धन वस्त्रादि से उनकी सहायता करते रहते थे। मनोविनोदार्थ कई प्रकार के खेल भी खेले जाते थे। चौपड़ द्यूत आदि का भी प्रचलन था। इस प्रकार कथाओं में चित्रित लोक संस्कृति बड़ी सुहावनी लगती है।

कथाओं के निर्माण में प्ररूढ़ियों का विशेष महत्व है। जिस प्रकार गृह के आकार को स्थूल रूप देने के लिए ईंट, पत्थर, चूना, लकड़ी आदि की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार कथा के स्वरूप में स्थिरता लाने एवं उसे विशेष मनोरञ्जक बनाने के लिए तथा उसमें रोमांच की अभिवृद्धि के हेतु प्ररूढ़ियों का प्रयोग अत्यावश्यक माना गया है। प्ररूढ़ि को अभिप्राय भी कहते हैं। इसे अंग्रेजी में "मोटिव' नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० श्यामाचरण दुबे इस अभिप्राय को कथा का मूल भाव मानते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे कथानक-रूढ़ि के रूप में स्वीकृत करते हैं जबकि कृष्णानन्द गुप्त ने इस अभिप्राय को कथानक का मुख्य लक्षण कहा है। डॉ० कन्हैयालाल सहल मोटिव के लिए प्ररूढ़ि शब्द को अपनाते हुए लिखते हैं—प्ररूढ़ि शब्द में आवृत्ति और गति दोनों का भाव एक साथ पाया जाता है इसलिए 'मोटिव' के रूप में प्ररूढ़ि शब्द अपनाया जा सकता है।"[1]

"कहानियों के लिए अभिप्रायों का वैसा ही महत्व है जैसा किसी भवन

१. लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ-उपक्रम

के लिए ईंट-गारे का अथवा किसी मंदिर के लिए नाना भांति से उकेरे हुए शिलापट्टों का।"[1]

"कथानक रूढ़ि—सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय जिसे अंग्रेजी में मोटिव कहते हैं उस शब्द अथवा सांचे में ढले हुए विचार को कहते हैं जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है। विभिन्न कलारूपों के अपने अलग-अलग अभिप्राय होते हैं। चित्रकला में अभिप्राय का अर्थ होता है—"कोई चल या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिसकी अलंकृत एवं अतिरञ्जित आकृति मुख्यतः सजावट के लिए किसी कलाकृति में बनाई जाय।" प्रत्येक देश के साहित्य में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढ़ियां बन जाती हैं और यांत्रिक ढंग से उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है, इन सभी रूढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय कहते हैं।

भारतीय साहित्य में परकायप्रवेश, लिंगपरिवर्तन, पशुपक्षियों की बात चीत, किसी बाह्य वस्तु में प्राणों का का बसना, आदि कितने ही अभिप्राय हैं। ये सभी कथानक-रूढ़ियां प्रधानतया दो प्रकार की हैं—एक लोकविश्वास पर आधारित दूसरी कविकल्पित। हिन्दी साहित्य में सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य का आदिकाल" में इन साहित्यिक अभिप्रायों की ओर ध्यान आकर्षित किया है।"[2]

ये प्ररूढ़ियां कथावस्तु में नए-नए मोड़ों को जन्म देती हैं और कथानक को अधिक आकर्षक बनाती हैं। इनके माध्यम से लोक की मान्यताओं एवं विश्वासों का भी विश्लेषण किया जा सकता है।

इन अभिप्रायों से कथा की व्यापकता सिद्ध होती है तथा विविध रूपों में फैली हुई कहानियों की एक-रूपकता का परिज्ञान इन प्ररूढ़ियों से ही सहज में हो जाता है। कथा की रोचकता में अभिवृद्धि करने वाले अभिप्राय निरन्तर बढ़ते रहते हैं।

जैन-कथाओं में कुछ ऐसे विशिष्ट अभिप्राय उपलब्ध होते हैं जो जैन-संस्कृति के मूल तत्वों को अनावृत करते हुए एक ऐसी प्राचीन परम्परा की

१. लोककथा अंक—आजकल, मई १९५४ पृष्ठ ११
२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १ पृष्ठ २०५

ओर संकेत करते हैं जो कई युगों से भारतीय जीवन को प्रभावित कर रही है। इस संदर्भ में निम्नलिखित कुछ अभिप्राय उल्लेख्य हैं—

१. विलीन होते हुए मेघ को, श्वेत केश को, शव को, बिजली की चमक को, वृद्ध को, नृत्य करती वेश्या को, मृत्यु को या कोढ़ी को देखकर विरक्त होना।
२. अवधि ज्ञानी मुनि के द्वारा आयु की समाप्ति जानकर मुनिदीक्षा ग्रहण करना।
३. जैनमुनि के दर्शन या धर्मोपदेश से वैभव का परित्याग कर साधक बनना।
४. जैन-मुनि से पूर्वभव अथवा अपना भविष्य सुनकर विरक्त होना।
५. स्वकीय पापों की आलोचना करते हुए विरागी बनना।
६. शास्त्र-श्रवण से सांसारिक भोगों से विरक्ति होना।
७. मंत्रों के द्वारा सर्प-दंश का शमन होना।
८. मंत्रों की सिद्धि से विपुल धन की उपलब्धि।
९. मंत्रित पादुकाओं से आकाश में उड़ना।
१०. स्मशान में पुत्र-जन्म।
११. दुःसाध्य कार्यों की पूर्णता से बुद्धि-परीक्षा।
१२. भाग्यपरीक्षा।
१३. राजकुमार के चुनाव में हाथी द्वारा माल्यार्पण।
१४. धन से परिपूर्ण जहाज का डूबना।
१५. जलदेवी द्वारा आशीर्वाद।
१६. अंगारों को छूकर निर्दोषिता प्रमाणित करना।
१७. अग्नि-कुण्ड में कूदकर निर्दोषता सिद्ध करना।
१८. सौतेली माता के दुर्व्यवहार से गृह-परित्याग।
१९. शिशु को संदूक में बन्द करके जल में प्रवाहित करना।
२०. चन्द्र-ग्रहण काल में मंत्र-सिद्धि।
२१. प्रहेलिकाएँ पूछ कर बुद्धि की परीक्षा करना।
२२. मुनि के आशीर्वाद से रोग का शमन होना।
२३ गंधोदक से कुष्ठ-रोग की समाप्ति।
२४. पद-प्रक्षालन से पति की पहचान।
२५. पद-स्पर्श से कपाटों का खुलना और इस प्रकार सच्चरित्रता को प्रमाणित करना।

२६. पूर्व जन्म के पाप-पुण्य को अगले जन्म मे भोगना।
२७. अपनी बात मनवाने के लिए स्त्री का हठ करना।
२८. पुण्य-फल के रूप में समस्त कलाओं की शीघ्र प्राप्ति।
२९. मरणासन्न पशु-पक्षी का एमोकार मंत्र सुनकर स्वर्ग में जाना।
३०. अमृत फल खाकर अमर बनना। अतिशयशाली जैन मुनि के प्रभाव से शुष्क वृक्ष का पुष्पित होना या छः ऋतुओं का एक साथ आविर्भाव।
३१. कुपित सिंह का मंत्र के प्रभाव से नतमस्तक होना, युद्ध में विजय प्राप्त होना, क्षुब्ध सागर का शांत होना, अक्षय भंडार का होना।
३२. स्तोत्र के द्वारा पाठ से असाध्य रोग से मुक्ति. सर्प-विष का नाश, कारागार से मुक्ति एवं बन्धनों का विच्छिन्न होना।
३३. भव्य पशु-पक्षियों द्वारा जैन मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मांस का परित्याग।
३४. जादू-टोना से असाध्य कार्यों का साध्य होना।
३५. पुण्य के प्रभाव से अग्नि का जल के रूप में परिवर्तित हो जाना।
३६. पौरुष की परीक्षा।
३७. मिथ्या भाषण से जीभ का स्वयं कटकर गिरना अथवा सिंहासन का अधोलोक में जाना।
३८. चौपड़ खेलते हुए अंगूठी का अपहरण।
३९. शील-साधना के प्रभाव से देवता के आसन का कम्पित होना।
४०. किंजल्क जाति के पक्षी के प्रभाव से महामारी, दुर्भिक्ष, अपमृत्यु रोग आदि का शमन होना।
४१. जैन-मुनि की निन्दा या अपमान से कुष्ठ रोगी होना और पशुगति में जाना।
४२. स्वमित्र के प्रबोधनार्थ स्वर्ग से देवता का मध्यलोक तथा अधो लोक में आना।
४३. जल में लिखे हुए मन्त्र का पाँव से मिटाना तथा इस पाप से नरक जाना।
४४. शास्त्राभ्यास तथा मुनिदर्शन से जातिस्मरण होना।
४५. चोरी से उपार्जित अन्न-भक्षण से चौर्य-कर्म में प्रवृत्त होना।

४६. विधिवत् व्रत की साधना से रोगादि का नष्ट होना।

४७. स्वप्नों के द्वारा शुभाशुभ भविष्य का संकेत।

४८. जन-मुनि के दर्शन-मात्र से शंकाओं का निर्मूल होना।

४९. कठिन प्रश्नों के उत्तरों की खोज में बुद्धिमती नारी का सहयोग मिलना।

५०. अपने कुकृत्यों की आलोचना से पाप-मुक्ति।

जैन-कथाओं की कुछ ऐसी विशिष्टताएं हैं जिनके कारण विश्व के कथाकारों ने इन्हें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में अपनाया है। जैनकथाओं के कुछ ऐसे तत्व हैं जो सार्वभौम होने के कारण अन्य धार्मिक कहानियों को विविध रूपों में प्रभावित कर सके हैं। हिन्दु धर्म की हजारों ऐसी कथाएं प्रचलित हैं जिनके अध्ययन से अध्येता इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि इन कहानियों के उदात्त कथानक जैन-कथा साहित्य में केन्द्रबिन्दु के रूप में बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थे, जिन्हें परवर्ती कथाकारों ने आकर्षण-वश अपनाया है और कई विशिष्ट काव्यों की सर्जना की है। इन कल्याणदायिनी कहानियों में केवल पारलौकिक अथवा अध्यात्मकवाद की ही प्रमुखता नहीं है अपितु लौकिक जीवन के धरातल पर गौरवशाली त्यागभाव को इस प्रकार अभिव्यंजित किया गया है कि साधक अपने चरम लक्ष्य को बड़ी सुगमता से जान सकता है। यहां दोनों का समन्वयात्यात्मक रूप दृष्टव्य है। संक्षेप में इन विशेषताओं को निम्न रूपों में आकलित किया जा सकता है—

(१) रोचकता

(२) विश्वकल्याण की भावना का प्राधान्य।

(३) शान्त रस की व्यापकता।

(४) कर्म सिद्धान्त का निरूपण।

(५) निश्चयनय एवं व्यवहारनय का समन्वय।

(६) जीवन के चरम लक्ष्य का निरूपण।

(७) संघर्षों को सहने की प्रेरणात्मक अनुभूति।

(८) सांसारिक वैभव की क्षणभंगुरता का मनोरम चित्रण।

(९) नारी की उदात्त मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति।

(१०) कौतूहल का पर्याप्त सम्मिश्रण।

(११) मानवीय तत्व को अधिक आकर्षक बनाने के हेतु अमानवीय तत्वों का समानुदानिक प्रयोग।

(१२) औत्सुक्य को जागृत रखने के लिए अलौकिकता की अभिव्यंजना।

(१३) लोक-जीवन का सफल अभिव्यंजन।

(१४) आदर्शवाद एवं यथार्थवाद के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का सन्तुलित निरूपण।

(१५) विशुद्ध शृंगार का चित्रण एवं अश्लील शृंगार का पूर्ण अभाव।

(१६) विविध विषयों गणित, ज्योतिष, न्याय, राजनीति, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि की चर्चा का समावेश।

(१७) पाप-पुण्य की रोचक व्याख्या।

(१८) प्रकृति का रमणीय चित्रण।

(१६) भारत के प्राचीन वैभव की अनुपम अभिव्यंजना।

(२०) ऐतिहासिक तत्वों की निष्पक्ष एवं समुचित व्याख्या।

(२२) कहानी की सुखद परिसमाप्ति।

(२३) तात्विक दृष्टि से आत्म-चिंतन का प्राचुर्य।

(२४) सूक्तियों के प्रयोग।

(२५) कल्पना का उचित उपयोग।

(२६) रूपकों एवं प्रतीकों का विभिन्न रूपों में प्रयोग।

(२७) लोक-प्रचलित उदाहरणों के माध्यम से सैद्धान्तिक गहन विषयों का सुगम निरूपण।

(२८) विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों की शब्दावली का उदारता पूर्वक प्रयोग।

(२६) जैनधर्म की उदारता को प्रमाणित करने के हेतु जाति-बन्धन के शैथिल्य का चित्रण।

(३०) पशु-पक्षियों का मानवीकरण।

(३१) जैन-तपस्वियों की सहनशीलता एवं महानता का अलौकिक अंकन।

(३२) परम्पराओं उत्सवों एवं मंगलमय आचारों तथा व्यवहारों का सहज उल्लेख और विवरण।

(३३) वर्ग विशेष के सांस्कृतिक चित्रण के साथ-साथ एक विशाल संस्कृति की सुहावनी अभिव्यंजना।

(३४) यथावसर विभिन्न कथाओं का स्वाभाविक वर्णन।

(३५) मर्मस्पर्शी भावाभिव्यंजना एवं सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की मूर्त्त अभिव्यक्तियाँ।

(३६) समयानुवर्तिनी सभ्यता का गतिशील वर्णन।

(३८) स्थानीयता का पुट।

(३६) सशक्त वातावरण की अभिव्यक्ति।

(४०) अतीत काल के साथ वर्तमान की अभिवृद्धि की कामना।

(४१) कृत्रिमता का पूर्ण अभाव आदि।

अभिप्राय यह है कि जैनकथासाहित्य विश्वसाहित्य के विशालभंडार की एक बहुमूल्य निधि है। जिसकी अपनी विशेषतायें हैं, मौलिकता है। इस साहित्य का विशेष प्रचार और प्रसार होने पर ही पूरी तरह मूल्यांकन किया जा सकता है।

जैन-कथा-साहित्य एवं लोक संस्कृति

जैन कथाओं में लोक-संस्कृति की विविध विधाएँ विशेष रूप से चित्रित हुई हैं। जन-जीवन इन कथाओं में इस प्रकार एकाकार हो गया है कि इन दोनों को एक दूसरे से पृथक करना अत्यन्त कठिन है। जैन-मुनि ग्रामों में विहार करते हुए जनता को सदुपदेशों से प्रबुद्ध बनाते थे और जैन-धर्म की मूलभूत भावनाओं को कथाओं के द्वारा समझाते थे। गाँवों की पग-डंडियाँ इन तपस्वियों के पावन चरणों के स्पर्श से पुनीत बनती थीं--और जन-जन का मानस इन निःस्पृही यतियों की वाणी को सुनकर पुलकित हो उठता था। निवृत्ति प्रधान जैन-मुनि अपनी कथाओं में कभी राजा का उल्लेख करते थे तो कभी रानी के उत्कृष्ट चरित्र की प्रशंसा करते हुए नारी की गरिमा को बताते थे। इन कहानियों में ग्रामों की सुषमा को बढ़ाने वाले पशु-पक्षी भी यथोचित स्थान पाते थे। विविध दृष्टान्तों में उल्लिखित कथाओं में व्रतादि की चर्चा के साथ-साथ जन-जीवन की मान्यताओं एवं लोक-विश्वासों का यथार्थ चिन्तन भी किया जाता था। लोक-भाषाओं में गुम्फित ये कथाएँ वस्तुतः लोक-कथाएँ ही हैं जिनमें व्यापक लोक की सांस्कृतिक भाव-भूमि मोटी मोटी रेखाओं में उभरी है। जैन-संस्कृति विराट् लोक को सदैव अपनाती रही है। फलतः कथाओं में चर्चित संस्कृति की मूल संवेदना लोक की साँसों से ही जीवित है। इन कहानियों में लोक-जीवन के विविध आधारों का विस्तृत वर्णन किया गया है, और सामाजिक धार्मिक एवं राष्ट्रीय चेतना का भी एक क्रमिक विकास बताया गया है।

लोक-जीवन के व्यापक धरातल पर टिके हुए कथानक लोक-संस्कृति की सहज परम्परा को प्राणवान बनाते हैं तथा सांस्कृतिक अवशेषों को सुरक्षित रखते हैं। सत्य तो यह है कि किसी प्रदेश की संस्कृति के अध्ययनार्थ उस भू-भाग की कथाओं का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

मुनि श्री जिन विजय जी लोक-तत्वों से परिपूर्ण जैन-कथाओं के सम्बन्ध में लिखते हैं कि भारत वर्ष के पिछले ढाई हजार वर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट अंकित करने में जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान-सामग्री इन कथाओं में मिल सकती है उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य में नहीं मिल सकती है। इन कथाओं में भारत के भिन्न-भिन्न धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के नाना प्रकार के आचार-व्यवहार, सिद्धान्त, आदर्श, शिक्षण, संस्कार, रीति-नीति, जीवन-पद्धति, राजतंत्र, वाणिज्य-व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाज-संगठन, धर्मानुष्ठान, एवं आत्म-साधन आदि के निर्देशक बहुविध वर्णन निबद्ध किये हुए हैं। जिनके आधार से हम प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार कर सकते हैं।"[1]

प्राकृत भाषा में लिखी गई जैन कथाओं की एक बड़ी संख्या है। एक युग का, जिसमें यह भाषा लोक-भाषा थी और जन-जीवन तथा लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति कथाकारों ने इसी जन-भाषा के माध्यम से की थी। जिस प्रकार लोक-कथाएँ हमारी संस्कृति की परिचायिका हैं, उसी प्रकार प्राकृत कथाएँ इस संस्कृति को अपने शब्दों में समाहित किये हुए हैं। आदरणीय डा० नेमिचन्द्र जी जैन, एम. ए., डी० लिट् के शब्दों में 'प्राकृत-कथाएँ लोक-कथा का आदि रूप है। वसुदेव हिण्डी में लोक-कथाओं का मूल स्रोत सुरक्षित है। गुणाढ्य की बृहत्कथा जो पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी, लोक-कथाओं का विश्वकोष है। अतः प्राकृत कथाओं का लोक-कथा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जातीय गौरव, वीर पूजा, जीवन की नवीन व्याख्या एवं संकेत विशेष की उपलब्धि प्राकृत कथाओं में पायी जाती है। विशिष्ट तथ्यों, सामाजिक और राजनैतिक वातावरण का यथातथ्य चित्रण एवं गहन समस्याओं का समाधान प्राकृत कथाओं में निहित है। कथाओं का ढाँचा लोक-कथा का है। प्राकृत लेखकों ने उसी धरातल पर धार्मिक कथाओं का निर्माण किया है'। .... प्रो० हर्टल प्राकृत कथाओं की विशेषता से

१. जैन कथा-साहित्य—ले०—प्रो० फूलचन्द जैन, सारंग, एम० ए० (श्रीमान् विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ पृ० ६६५)

अत्यन्त आकृष्ट हैं। उन्होंने बताया है—कहानी कहने की विशिष्टता प्राकृत कथाओं में पाई जाती है। ये कहानियां भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के रस्म-रिवाज को पूर्ण सचाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कथाएँ जन-साधारण की शिक्षा का उद्‌गम स्थान ही नहीं हैं, बरन भारतीय सभ्यता का इतिहास भी हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा-साहित्य बहुत उपयोगी है। जन-साधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक के चरित्र को जितने विस्तार और सूक्ष्मता के साथ प्राकृत कथाओं ने चित्रित किया है उतना अन्य भाषाओं के कलाकारों ने नहीं। निम्न श्रेणी के व्यक्तियों का भी यथार्थ मूल्यांकन प्राकृत कथाओं में समाहित है।[1]

संस्कृति को दूर-दूर के देशों तक पहुंचाने वाले ये पशु पक्षी ही हैं। फलतः इनको भी प्राकृत-कथाओं में तथा अन्य भाषाओं की कहानियों में विशेष रूप से अपनाया गया है। पशु-पक्षियों से सम्बन्धित प्राकृत कथाओं के अनुशीलन के लिये 'नायाधम्म कहाओ' अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। श्री विण्टरनित्स ने भी प्राकृत कथा साहित्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'प्राकृत का कथा साहित्य सचमुच विशाल है। इसका महत्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ही नहीं है बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें इसमें जन-साधारण के वास्तविक जीवन की झांकियां भी मिलती हैं। जिस प्रकार इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य है उसी प्रकार उनका वर्ण्य विषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओं और पुरोहितों का जीवन ही इस कथा साहित्य में चित्रित नहीं है अपितु साधारण व्यक्तियों का जीवन भी अंकित है।' (ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर भाग २, पृष्ठ ५४५)

इस प्रकार हम देखते है कि संस्कृति एवं कथा-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा इन कहानियों में संस्कृति इस प्रकार समाई हुई है कि उसे इन से (कथाओं से) पृथक करना असंभाव्य है।

आगे के पृष्ठों में यह बताने का प्रयास किया गया है कि जैन कथाओं में संस्कृति एवं सभ्यता के उपकरण किस प्रकार चित्रित हुए हैं।

---

1. प्राकृत कथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ—मरुधर केशरी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ट २०२

जैन कथाओं में अध्यात्मवाद

जैन-कथाओं में जीव, परमाणु, विश्व, मोक्ष, स्वर्ग, नरक, पाप पुण्य आदि की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। जीवों की व्याख्या करते हुए कथाकारों ने मुक्त जीव, एवं संसारी जीव (भव्य जीव एवं अभव्य जीव) इस प्रकार जीव के दो रूपों को प्रतिपादित किया है। साथ ही साथ सांसारिक वैभव की क्षणभंगुरता प्रदर्शित करके प्रत्येक मानव को मुक्ति-साधना के लिए भी प्रयत्नशील रहने के लिए इन कथाकारों ने किसी विशिष्ट मुनि, यति, तपस्वी एवं साधक के माध्यम से उपदेश दिलाया है। धर्म-दर्शन भावना को प्रसंगों के सहारे इन कहानियों में यत्र-तत्र अंकित किया गया है। जैन-धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों को निरूपित करते हुए इन कहानीकारों ने एक ओर जैनधर्म की विशिष्टता को सप्रमाण सिद्ध किया है और दूसरी ओर अन्य मतों की कमजोरियों को भी उपयुक्त तर्क देकर बताया है।

निवृत्तिमूलक जैनधर्म आत्म-शोधक की प्रक्रिया को सदैव बलवती बनाता रहा है। जल में जिस प्रकार कमल रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक मानव को इस संसार में रहना चाहिए तथा सामाजिक पक्ष की अवहेलना न करते हुए अपने चरम लक्ष्य (मुक्ति) की ओर बढ़ते रहना चाहिए। यही चिरन्तन उपदेश हमें इन कथाओं से प्राप्त होता है। जीवन की स्वतंत्रता एवं विश्व की चिरन्तरता को अंगीकार करते हुए इन कथाओं में आचार्यों ने यह प्रदर्शित किया है कि प्रत्येक जीव

अपने किए हुए कर्मों के फल को भोगता रहता है। व्रतादि आत्म-शोधन के प्रमुख साधन हैं--इस तथ्य को भी इन कथाकारों ने कभी नहीं भुलाया है। पुनर्जन्म की मान्यता जैन-धर्म में असंदिग्ध है। दान पूजा व्रत णमोकार मंत्रादि से पुण्योपलब्धि होने के साथ अशुभ कर्मों का उपशम-क्षयादि होता है। इन सर्वमान्य तथ्यों को भी उपयुक्त उदाहरणों से इन कहानियों में साबित किया गया है।

इन कथनों के संदर्भ में कतिपय कथाओं के विशिष्ट अंशों का यहां उल्लेख किया जाता है। कथाओं में चर्चित दार्शनिकता के परिप्रेक्ष्य में जो सूक्तियाँ कही गई हैं वे भी यहाँ उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनसे (सूक्तियों से) जैनधर्म विषयक अनेक अवधारणाओं का परिचय मिल जाता है।

महाराज अपने मन में सोचने लगे---संसार की सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं। यह दुःख का समुद्र है। इस शरीर के ऊपर हम इतना मोह करते हैं जो घृणास्पद, दुःखप्रद तथा मल-मूत्रों का आगार है। बुद्धिमान मनुष्य इस क्षण-भंगुर शरीर से कभी भी प्रेम नहीं करते।" सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा।

आराधना कथा-कोष प्रथम भाग पृष्ठ ३०

वज्रकुमार मुनि ने जिस भक्ति-भाव से जैन धर्म की मर्यादा स्थापित करने में तत्परता दिखलाई अन्य धर्मात्माओं को उचित है कि वे भी संसार की भलाई करने वाली, स्वर्ग-मोक्ष प्रदान करने वाली धर्म प्रवाहना का मार्ग प्रशस्त करें। संसार के उत्तम पुरुष ही मूर्ति-प्रतिष्ठा, पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार, रथ महोत्सव, विद्या-दान, आहार-दान, अभय दानादि कार्य द्वारा धर्म मार्ग की उन्नति कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर त्रिभुवन में पूजनीय होते हैं और वे ही अन्त में मोक्ष धाम के वासी होते हैं।

वज्रकुमार की गाथा

आराधना कथा कोष भाग १, पृष्ठ १३५

राजा ने मुनिराजों को भक्ति पूर्वक ऊँचे आसन पर बैठाकर नवधा भक्ति सहित पवित्र आहार कराया जो कि उत्तम सुखों का देने वाला है। सच है दान-पूजा व्रत उपवासादि से ही श्रावकों की शोभा है और जो इनसे रहित हैं वे फलरहित वृक्ष की तरह निरर्थक समझे जाते हैं। इसलिए बुद्धिमानों को उचित हैं कि वे पात्रदान, जिन-पूजा, व्रत, उपवासादिक सदा अपनी शक्ति के अनुसार करते रहें।

सुरत राजा की कथा

आराधना कथाकोश भाग २, पृष्ठ ७५

समय पाकर सती की मृत्यु हुई। अपने पाप के फल से वह संसार रूपी वन में घूमने लगी। सो ठीक ही है। अपने किये पुण्य या पाप का फल जीवों को स्वयं भोगना ही पड़ता है।

सुरत राजा की कथा
आराधना कथाकोश, भाग २ पृष्ठ ७६

रुद्रदत्त ने जिनमती की यह बात मानली। उसने तब कुछ लोगों को इस बात का गवाह बना कर महादेव, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों के लिए अर्घ दिया बड़ी भक्ति से उनकी पूजा-स्तुति कर उसने अग्नि शान्ति के लिए प्रार्थना की, पर उसकी इस प्रार्थना का कुछ उपयोग न हुआ। अग्नि जिस भयकरता के साथ जल रही थी वह उसी तरह जलती रही।

सम्यक्त्व को न छोड़ने वाले की कथा
आराधना कथाकोश भाग ३, पृष्ठ १६७

तब ऋजमति मुनि ने उसे इस प्रकार धर्म का स्वरूप कहा :

मुनिधर्म और गृहस्थधर्म में सबसे बड़ा भेद यह है कि पहला साक्षात मोक्ष का कारण है और दूसरा परम्परा से। श्रावक धर्म का मूल कारण है–सम्यक्‌दर्शन का पालन। यही मोक्ष-सुख का बीज है। बिना इसके प्राप्त किये ज्ञान-चरित्र वगैरह की कुछ कीमत नहीं। इस सम्यग्दर्शन को आठ अगों सहित पालना चाहिए। सम्यक्त्व पालने के पहले मिथ्यात्व छोड़ा जाता है। क्योंकि मिथ्यात्व ही आत्मा का एक ऐसा प्रबल शत्रु है जो संसार में इसे अनन्त काल तक भटकाये रहता है। मिथ्यात्व का संक्षिप्त लक्षण है —जिन भगवान के उपदेश किये तत्व या धर्म से उलटा चलना और यही धर्म से उलटापन दुःख का कारण है।

—रात्रिभोजन त्याग कथा
आराधना कथाकोश भाग ३ पृष्ठ २०६

यह लोभ संसार के दुःखों का मूल कारण और अनेक कष्टों का देने वाला है माता-पिता, भाई, बहन, बन्धु-बान्धव आदि का परस्पर ठगने और बुरे विचारों को उत्पन्न करने का घर है।

परिग्रह से डरे हुए दो भाइयों की कथा
आराधना कथाकोश–भाग २, पृष्ठ १११

उन्होंने तब उससे कहा—बहिन जिस आशा से तू इन कुदेवों की पूजा करती है वह आशा ऐसा करने से सफल न होगी। कारण सुख-सम्पत्ति,

सन्तान प्राप्ति, नीरोगता, मान-मर्यादा, सद् बुद्धि आदि जितनी अच्छी बातें है, उन सबका कारण पुण्य है। मैं तुझे तेरे हित की बात कहता हूँ कि इन यक्षादिक कुदेवों की पूजा मानता करना छोड़कर, जो कि पुण्य बन्ध का कारण नहीं है, जिन धर्म पर विश्वास कर। उससे तू सत्पथ पर आजायगी और तेरी आशा भी पूरी होने लगेगी।

सुकौशल मुनि की कथा
आराधना कथा-कोष, दूसरा भाग, पृष्ठ २३२

वेश्या का यह प्रलाप सुनकर निश्चल और धीर वीर सुदर्शन मुनि बोले—हे मुग्धे (मूर्खिणी) यह अपवित्र शरीर दुःखों का घर, वायु-पित्त, आदि दोषों से पीड़ित, कृमिकुल से परिपूर्ण और विनश्वर है। यह सांसारिक भोगोंपभोगों के अनुभव करने के लिए नहीं है, किन्तु परलोक सिद्धि की सहायता के लिए है। अतएव इसे तपस्या में ही लगाना चाहिए। ये सम्पूर्ण भोगोपभोग अविचारितरम्य और दुःखान्त हैं। इनसे प्राणी को कभी सन्तोष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मोक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र सुख नहीं है और वह तपस्या के बिना प्राप्त नहीं हो सकती।

सुदर्शन सेठ की कथा
पुण्यास्रव कथाकोष–पृष्ठ १२१

जिन धर्म में प्रतिपादित अध्यात्मवाद से सम्बद्ध कुछ सूक्तियाँ भी यहाँ दी जाती हैं:–

(१)

कर्मों के उदय से जीवों को सुख या दुःख भोगना ही पड़ता है। (आ. क. को. भाग २ पृष्ठ २७)

(२)

जिनका मन लोभ के वश में हो जाता है उनको चिरकाल तक विवेक नहीं रहता है।

जैन रामायण चतुर्थ सर्ग–पृष्ठ १४६

(३)

पुण्यात्मा के मित्र ये हैं–दान, व्रत, जिन भक्ति, पूजा, शुद्धाचरण एवं सद्विचार।

आ. क. को. प्रथम भाग पृष्ठ ९८

(४)

मोक्ष-सुख का बीज सम्यग्दर्शन है।

आ. क. को. भाग ३–पृष्ट २०१

(५)

व्रतों की रक्षा दृढ़ता से करनी चाहिए।

आ. क. को. भा. ३ पृष्ठ २१३

(६)

शीलवान पुरुष ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

आ. क. को. भा. ३ पृष्ठ २३६

(७)

अपने किये हुए पुण्य या पाप का फल जीवों को स्वयं ही भोगना पड़ता है।

आ. क. को. भाग २ पृष्ठ ७६

(८)

राजवैभव सचमुच ही महापाप का कारण है।

आ. क. को. भाग. २. पृष्ठ १७५

(९)

पांचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करने वाले निश्चयतः नरक में जाते हैं।

आ, क. को भाग. २ पृष्ठ १७६

(१०)

जिन भगवान् की पूजा पापों की नाश करने वाली और स्वर्ग-मोक्ष के सुखों की देने वाली है। ·······जिन पूजा द्वारा सभी उत्तम सुख मिलते हैं। जिन पूजा करना महापुण्य का कारण है।

आ. क. कोश भाग ३ पृष्ठ २८७

इस प्रकार की हजारों सूक्तियां जैन कथाओं में गुम्फित है, जिनका अनुशीलन अध्यात्मवाद की भावना को जाग्रत करने के लिए परमोपयोगी सिद्ध हुआ है।

व्रतोत्सवादि

अध्यात्मवाद के अन्तर्गत व्रतोत्सवादि की चर्चा भी आवश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि इनसे आत्म-शोधन होता है जो अध्यात्मवाद की परिपुष्टि में

विशेष सहायक माना गया है। डा० नेमिचन्द्र जी जैन डी० लिट् के कथनानुसार–सांस्कृतिक जीवन का सम्बन्ध उत्सव एवं व्रतोपवास के साथ भी है। उत्सवों द्वारा आह्लाद प्राप्त किया जाता है और व्रतोपवास से आन्तरिक शुद्धि कर आत्मा को संस्कृत बनाया जाता है। जीवनोत्थान के लिए उत्सव और व्रत दोनों की ही आवश्यकता है, क्योंकि उत्सव और व्रतों का संस्कृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अहिंसा प्रधान श्रमण संस्कृति में आत्म-शोधन और लौकिक अभ्युदय की उपलब्धि दोनों ही जीवन की प्रगति एवं प्रेरणा के लिए आवश्यक माने गए हैं।[1]

जैन-कथाओं में जन्मोत्सव, विद्यारम्भोत्सव, विवाहोत्सव, निर्वाणोत्सव, वसन्तोत्सव, होलिकोत्सव आदि उत्सवों की चर्चा के साथ-साथ अनेक व्रतों के करने का भी उल्लेख हुआ है। इन व्रतों की विधि वत् साधना से अनिष्टों का शमन होता है, व्याधि का क्षय होता है, मनोकामना की पूर्ति होती, है *संभावित कष्टों की परिसमाप्ति होती है तथा पुण्यबंध होने से व्रत* करने वालों को श्री की प्राप्ति के साथ यशादि की उपलब्धि भी होती रहती है। इन कथाओं में दुखियों एवं व्याधि पीड़ितों की रक्षार्थ परम निर्ग्रन्थ परोपकारी मुनियों के द्वारा विविध व्रतों की साधना बताई गई है। इन व्रतों में से विशेषतः रोहिणी व्रत[2] नागपंचमी व्रत[3] अष्टान्हिका व्रत[4] पुष्पांजलि व्रत[5] सुगंध दशमी व्रत[6] आदि का अधिक वर्णन हुआ है। आत्म-शुद्धि कर्म निर्जरा एवं लौकिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष के हेतु किए गए ये व्रत निश्चयतः बड़े कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं। हजारों वर्षों के व्यतीत होने पर भी जैन-जनता की श्रद्धा आज भी इन व्रतों के प्रति पूर्ववत् ही है।

---

1. आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृष्ठ २५२
2. पूतिगंधा और दुर्गन्धा की कथा–पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ १५७
3. नागकुमार नामदेव की कथा— „ „ „ १४३
4. वज्रकुमार की कथा—आं० क० कोष प्रथम भाग पृष्ठ १३१
5. रत्नशेखर चक्रवर्ती की कथा–पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ ११
6. सुगंध दशमी कथा

जैन कथाओं में चित्रित सामाजिक जीवन

जैन कथाओं में जिस सामाजिक जीवन के चित्र अंकित किए गए हैं, वह बड़ा ही सुगठित एवं सुव्यवस्थित कहा जा सकता है। राजाओं के सुशासन में प्रजा बड़ी ही सुखी और सम्पन्न थी। नृपति प्रजा को अपनी पुत्री के समान प्यार करता था तथा उसे सुखी रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था प्रजा राजा के प्रति श्रद्धावती थी क्योंकि दोनों का सम्बन्ध राजनैतिक दृष्टि से भी पावन था। शोषण की कुप्रवृति इस काल में थी ही नहीं। यों तो दो चार कुराजा सर्वत्र ही मिल जाते हैं। सत् युग में भी तो कुनृपतियों का अभाव नहीं था।

धार्मिक विरोध के भी कुछ उदाहरण इन कथाओं में मिल जाते हैं, लेकिन ये नगण्य है, क्योंकि इन शासकों के राज्यों में प्रजा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार धर्म का पालन करती थी।[1] धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ जैन-धर्म की गरिमा को प्रदर्शित करने के लिए यथा संभव उपलब्ध साधनों को

---

1 1. भट्टाऽकलंकदेव की कथा—आराधना कथा कोष भाग १ पृष्ठ ८
2. समन्त भद्राचार्य की कथा– ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ३५
3. विष्णु कुमार मुनि की कथा ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १०७
4. राजा धनदत्त की कथा— ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १४६
5. महाराजा श्रेणिक की कथा,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १५४

अपनाया जाता था इस तथ्य को हम विस्मरण नहीं कर सकते हैं कि इन कथाओं में वर्णित बहुसंख्यक राजा जैनधर्मावलंबी थे।

सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए शासकों ने कठोर दण्ड-विधान का सहारा लिया था। अपराधों के होने से समाज में अव्यवस्था आ जाती है और जिस शासन में समाज अपने जीवन और धन को अरक्षित समझता है, वह कुशासन शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और समाज में उथल-पुथल मच जाती है। इन जैन-कथाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजा सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति लाने के लिए हमेशा प्रयत्न करते रहते थे और समाज-विरोधी तत्वों को नष्ट करने के लिए यथोचित साधनों को सजग होकर अपनाते थे।

वर्ण व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने के लिए भी तत्कालीन भूपाल प्रयत्न-शील थे और जो व्यक्ति इस व्यवस्था का उल्लंघन करते थे वे दण्डित किये जाते थे तथा राज्य से भी उन्हें निकाल दिया जाता था।[1]

अपराधी पुनः अपराध करने का साहस न कर सके एतदर्थ झूठा सवाद देने के लिए प्राण-दण्ड की सजा दी जाती थी। इसी प्रकार हत्या करने वाले को शूली पर चढ़ा दिया जाता था।[2] भयावह दण्ड-व्यवस्था के कारण समाज में चारित्रिक शुद्धि थी और पापाचरण की ओर बहुत कम आकर्षण था।

संसारी मानस में पूर्ण शुद्धि तो होती ही नहीं है। पाप पुण्य से परिवेष्टित यह इंसान कभी-कभी परिस्थिति वश पाप भी कर बैठता है। विशुद्ध सामाजिक वातावरण में जूए को भी आमोद-प्रमोद का साधन माना जाता था–(देखिए सूर्य मित्र और चांडाल पुत्री की कथा–पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ ८२)।

चोरी की भी घटनाएं हो जाया करती थी। (देखिए धन से डरे हुए सागरदत्त की कथा–आराधना कथाकोश–दूसरा भाग पृष्ठ ११२)

अहिंसा के वातावरण में नर मांस भक्षण की भी घटना सुनने को मिल जाती थी (देखिए भीमराज की कथा–आराधना कथा कोश भाग २ पृष्ठ १७६) इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों के होते हुए भी मानव-समाज पर्याप्त-रूप से प्रवृद्ध था और अवसर मिलते ही निवृत्तिमार्ग का पथिक बन जाता था—(देखिए महाराक्षस विद्याधर की कथा—पुण्याश्रव कथा कोष, पृष्ठ ३३

1. शिवभूति पुरोहित की कथा-आ० क० को० भाग १ पृष्ठ १४३
2. सूर्य मित्र और चांडाल पुत्री की कथा–पुन्याश्रुव कथा कोष पृष्ठ ८२

वज्रदन्त चक्रवर्ती की कथा—पुण्याश्रव कथा कोष पृष्ठ ३६, राजा पद्मरथ की कथा-आराधना कथाकोश भाग १, पृष्ठ १४७) इस संदर्भ में सैकड़ों कथाओं का उल्लेख किया जा सकता है। सत्य तो यह है कि इन जैन कथाओं में आदर्शवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। यथार्थवाद की पृष्ठ-भूमि को अपनाते हुए भी इन कथाकारों ने समाज को प्रवुद्ध बनाने के लिए आदर्शवाद को सदैव सर्वोच्च स्थान दिया है। यही इन कहानियों की विशेषता है।

विवाह व्यवस्था

समाज की सुव्यवस्था के लिए विवाह बहुत आवश्यक है। अन्यथा अविवाहित युवक न मालूम क्या अनर्थ कर बैठें। जीवन को सन्तुलित बनाये रखने के लिए धर्माचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि विवाह योग्य अवस्था प्राप्त होने पर लड़का तथा लड़की का विवाह कर देना ही चाहिये। परिवारों से निर्मित होने वाला समाज, विवाह पर ही तो आधारित है। विवाह के सम्बन्ध में प्रमुख दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण इसे (विवाह को) ऐसा ठेका मानता है जिसमें स्त्री अपने ऊपर बालक की परवरिश को, और पुरुष अपने ऊपर इन दोनों की भूख-प्यास सुरक्षा आदि की जिम्मेदारी लेता है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार विवाह कोई ठेका नहीं है, यह किन्ही शर्तों पर नहीं किया जाता, विवाह तो एक धार्मिक संस्कार है। यह टूट नहीं सकता, एक बार हो गया तो हो गया, इसे आजन्म निभाना होता है।[1]

डॉ० नेमिचन्द्र जी जैन एम. ए. डी. लिट् ने विवाह संस्था पर लिखते हुए विवाह के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। उनका कथन है कि जब तक मनुष्य धर्म नहीं पालता, तब तक वह अधूरा है। विवाह करना भी धर्म है, क्योंकि बिना विवाह किये धार्मिक कार्य सम्पादित नहीं किये जा सकते हैं। मनुष्य पूर्ण तभी माना जाता है, जब उसे पत्नी और सन्तान की प्राप्ति होती है। वास्तव में परिवार का संचालन विवाह संस्था के बिना संभव नहीं है। समाज-शास्त्र की दृष्टि से विवाह के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(१) धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन।
(२) सन्तान-प्राप्ति।
(३) परिवार के प्रति दायित्व और कर्त्तव्यों का निर्वाह।

---

1. भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ—ले० प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार पृष्ठ ४३५

(४) समाज के प्रति कर्त्तव्य और दायित्वों का पालन।

(५) व्यक्तित्व का विकास।

(६) गृहस्थ धर्म की आहारदानादि क्रियाओं का निर्वाह।

(७) स्त्री-पुरुषों के यौन सम्बन्ध का नियंत्रण।

विवाह चिरमर्यादित समाज संस्था है। जीवन में धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थों का सेवन विवाह-संस्था के बिना असंभव है। गृहस्थ जीवन का वास्तविक उद्देश्य, दान-देना देव-पूजा करना, एवं मुनि धर्म के संचालन में सहयोग देना है। साधु-मुनियों को दान देने की क्रिया गृहस्थ-जीवन के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती है। स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना अकेली स्त्री दानादि क्रिया सम्पादित करने में असमर्थ है। अतः चतुर्विध संघ के संरक्षण की दृष्टि से और कुल परम्परा का निर्वाह करने की दृष्टि से विवाह संस्था की परम आवश्यकता है।

शास्त्रकारों ने विवाह की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते—अर्थात् सातावेदनीय और चारित्र मोहनीय के उदय से विवहन, कन्यावरण करना विवाह कहा जाता है। अग्नि, देव और द्विज की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण किया का सम्पन्न होना विवाह है।

आदि पुराण में विवाह की आवश्यकता का विवेचन करते हुए बताया गया है कि विवाह न करने से सन्तति का उच्छेद हो जाता है और सन्तति का उच्छेद होने से धर्म का उच्छेद होता है। विवाह गृहस्थों का धर्म-कार्य है। सन्तति संरक्षण और परिवार संवर्द्धन के लिए विवाह आवश्यक धर्म है।"[1]

जैन कथाओं में विवाह के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इन कहानियों में विवाह के विविध रूप हमें प्राप्त होते हैं। वैवाहिक परिप्रेक्षा में वय, वैभव, शील, धर्मादि का विशेषतः विचार किया जाता था। कुछ अंशों में आज भी विवाह-संदर्भ में इन बातों का ध्यान रखा ही जाता है। वर्ण और जाति के सम्बन्ध में भी विचार करना यहाँ समुचित प्रतीत होता है क्योंकि विवाहों की व्याख्या में इन दोनों का (वर्ण और जाति का) प्रायः उल्लेख होता है।

---

1. आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृष्ठ—१६०—६१ से साभार।

"वर्ण और जाति दोनों भिन्नार्थक शब्द हैं। जब व्यक्तियों का समुदाय कई सन्ततियों से वंश परम्परागत प्रणाली के अनुसार एक ही देश में रहता हो, तब उसे जाति (Race) कहा जाता है। प्रत्येक जाति के मानसिक गुण पृथक-पृथक होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि जाति विस्तृत रूप से रक्त संबंध रखने वाले प्राणियों का वर्ग है, जो अपने शारीरिक चिन्हों की विशेषता द्वारा दूसरे से भिन्न दृष्टि गोचर होती है। जाति की व्यापक परिभाशा यह हो सकती है कि जाति मनुष्य जाति का वह एक उप-विभाग है, जिसमें जन्म से ही भौतिक लक्षण, आकार, प्रकार, माप-तौल, परिमाण शिरोरूप त्वचा, वर्ण आदि समान पाये जाते हैं। स्पष्ट है कि जाति का ग्रहण बहुत व्यापक अर्थ राष्ट्रीय रूप में भी किया गया है। आदि पुराण-कार ने जाति का ग्रहण राष्ट्रीय अर्थ में नहीं किया है। यों तो जाति नाम कर्मोदय से एक ही जाति मनुष्य जाति (Caste) है, पर आजीविका भेद से वह चार प्रकार की हो जाती है। अतएव जाति कुटुम्बों का वह समूह है, जिसका अपना एक निजी नाम है, जिसकी सदस्यता पैतृकता द्वारा निर्धारित होती है, जिसके भीतर ही कुटुम्बविवाह करते हैं और जिसका या तो अपना निजी पेशा होता है, या जो अपना उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुष से बताते हैं।

उपर्युक्त कथन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय रूप जाति प्राणि शास्त्रीय है और इसका आधार शारीरिक लक्षणों की एक रूपता है। इसी कारण इसे प्रजाति (Race) शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। सामाजिक संगठन बनाये रखने के लिए जन्म या कर्म के आधार पर वर्ग चेतना के निर्वाहनार्थ मानव-समूहों का विभक्त होना जाति (Caste) कही जाती है। इसी का दूसरा नाम वर्ण भी है। आदि ब्रह्मा ऋषभ देव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी। भरत ने व्रत संस्कार की अपेक्षा ग्रहण कर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।[1]

विवाह जीवन का विशिष्ट संस्कार है जो विशेष उत्साह से मनाया जाता है। गरीब तथा अमीर दोनों ही वैवाहिक विधान में अपनी-अपनी परम्पराओं को अपनाते हैं एवं समाज में प्रचलित विधि का अनुसरण करते हैं। शुभ मुहूर्त और सद् भावना वैवाहिक संस्कार की पृष्ठ भूमि कही गई है। (देखिए राजा श्रेणिक की कथा-पुन्याश्रव कथा कोष पृष्ठ ३७, सेठ

---

1. आदि पुराण में प्रतिपादित भारत (ले० डॉ० जैन) पृष्ठ १४७–४८ से साभार।

सुदर्शन की कथा-पुन्याश्रव कथा कोष, पृष्ठ ६७, बज्रकुमार की कथा आराधना कथा-कोष भाग १ पृष्ठ १२१ आदि। इस संदर्भ में अनेक कथाएँ उद्धृत की जा सकती हैं। इस प्रकार के विवाह स्वजाति में ही हुआ करते थे और आज भी यही प्रथा प्रचलित है।

जैन कथाओं में विजातीय विवाहों की भी चर्चा मिलती है। नागकुमार कामदेव की कथा (पुन्याश्रव कथा कोष पृष्ठ, १२६ इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है। स्वयंवरों के माध्यम से भी विवाह सम्पादित होते थे एवं कन्याएँ अपनी इच्छानुसार पति का वरण करती थीं। स्वयंवर-विवाहों में आमंत्रितों का पूर्ण परिचय अविवाहिता युवतियों को नियमानुसार दे दिया जाता था। (देखिए पूतिगंधा और दुर्गंधा की कथा, पुन्यास्रव कथा कोष पृष्ठ २४६, रत्नशेखर चक्रवर्ती की कथा पुन्याश्रव कथा कोष पृष्ठ ७ आदि।)

पुरातन काल में वयस्का होने पर कन्याओं के विवाह हुआ करते थे, तभी तो अविवाहित युवती अपने विवाह में किसी विशिष्ट शर्त को स्वयं रखती थी और घोषणा करती थी कि जो युवक शर्त की पूर्ति करेगा उसी के साथ वह विवाह करेगी। ऐसे विवाहों में वर की शक्ति परीक्षा एवं पुण्य-शीलता प्रधान थी। देखिए **नागकुमार कामदेव की कथा, पुन्याश्रव कथा कोश पृष्ठ १२६ तथा जयकुमार–सुलोचना की कथा, पुन्याश्रव कथा कोष पृष्ठ ३७१ आदि।**

विद्याधरों की कन्याओं के साथ भी युवकों के विवाह हुआ करते थे। विद्याधरों के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक विचारधाराएँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ये विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में रहते हैं तथा समय-समय पर भ्रमणार्थ (आमोद-प्रमोदार्थ) अथवा विशिष्ट कार्यवश विशाल मध्यलोक की यात्रा विमानों द्वारा करते रहते हैं। कतिपय मनीषियों की धारणा है कि ये (विद्याधर) विशेष मानव ही हैं, लेकिन असाधारण शक्ति एवं विद्या सम्पन्न अवश्य हैं। देखिए **बज्रकुमार की कथा, आराधना कथा कोष प्रथम भाग, पृष्ठ १२१**

सामन्तवादी युग के वातावरण से परिपूर्ण ये जैन-कथाएँ नरपतियों की विलासिता की ओर भी पर्याप्त संकेत करती हैं। ये नरेश वैवाहिक बन्धनों को भी कभी-कभी तोड़ दिया करते थे और मलेच्छों की कन्याओं को वरण कर अपनी काम पिपासा को शान्त करते थे।

एक पत्नी व्रत के आदर्श को स्वीकार करते हुए भी कुछ सम्पन्न पुरुष ऐसे भी थे जो बहुपत्नीत्व को भी अपनाए हुए थे। (द्रष्टव्य सुकुमार सुकुमाल, जैन युग निर्माता–पृष्ठ २६०, सुकौशल मुनि की कथा आदि)

आहार-पान, वेश-भूषा, निवास आदि—

जैन-कथाओं में वर्णित अनेक जातियों (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, स्पृश्य शूद्र एवं अस्पृश्य शूद्र) का उल्लेख है। अतः आहार-पानादि में विभिन्नता होना स्वाभाविक ही है। जैनों के जीवन में सदैव सात्विक आहार की प्रधानता ही रही है और आज भी है। लेकिन अजैन मांसादि का भी भक्षण करते थे। खाद्य, स्वाद्य, लेय एवं पेय—इन चारों प्रकार के आहार के प्रति जनता की रुचि थी तथा आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार स्वादिष्ट एवं पुष्टिकारक भोजन करके जन अपने स्वास्थ्य की रक्षा किया करते थे।

द्रष्टव्य—नन्दिमित्र की कथा—पुण्याश्रव कथा कोश—पृष्ठ २७६

काम सच्ची उपासना है—शीर्षक कहानी **दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ—ले० डॉ० जगदीश चन्द्र जैन पृष्ठ ४१** गुड़ और घी मिश्रित मिठाइयाँ रखने का प्राचीन काल में विशेष प्रचलन था—**देखिए स्त्री बातों की कहानी —दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ—ले० डा० जगदीश चन्द्र जैन पृष्ठ ६१।** ग्रामवासी सत्तू खाकर जीवन निर्वाह करते थे। **देखिये 'दो पावली सत्तू' शीर्षक, कहानी, दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ पृष्ठ ६६** और कैदियों को कोदों तथा सामान्य चावल खाने को दिया जाता था। **देखिये कल्पक की चतुराई शीर्षक कहानी—दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, पृष्ठ १२५।** आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार जनता अपनी रुचि को पूर्ण करने के लिए अनेक प्रकार की वेश-भूषा से स्वशरीर को अलंकृत करती थी तथा देह को विलेपनादि से स्वच्छ रखती थी। पान-खाना, इतर फुलेल लगाना, और सुन्दर वस्त्राभूषण पहनना शौकीन मिजाजी का परिचायक था। **देखिए काम सच्ची उपासना है —शीर्षक कहानी—दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ—लेखक डा० जगदीशचन्द्र पृष्ठ सं० ४१।** धनवानों की सन्तानें अच्छे-अच्छे रत्न जड़ाऊ गहने और बहुमूल्य वस्त्र पहना करती थीं, जिनसे उनका सौन्दर्य अधिक आकर्षक हो जाता था—**देखिये नीली की कथा—आराधना कथा कोष भाग २ पृष्ठ ४६।** रानियाँ तो बहुमूल्य हार पहनकर अपने गले की शोभा बढ़ाती थीं तथा सोने के अलंकारों से चम्पा के समान मोहक शरीर के रंग को विशेष मनमोहक बनाया करती थी। **देखिए हढ सूर्य चोर की कहानी—पुण्याश्रव कथा कोष पृष्ठ ६५।** साधारण जनता सामान्य वेश-भूषा पहनकर ही सन्तुष्ट रहती थी।

आमोद-प्रमोद के साधन

अपने-अपने व्यवसायों से अवकाश पाकर मनुष्य आमोद प्रमोद में निमग्न रहकर जीवन की थकान को मिटाते थे। पुरातन काल में आमोद

प्रमोद के अनेक साधन थे। जूआ खेलना **सुबंधु मित्र और चांडाल पुत्री की कथा–पुण्याश्रव कथा कोष पृष्ठ सं० ८३**। नाटक देखना, **कुबेर प्रिय सेठ की कथा पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ १६७**। घुड़सवारी करना, चौपड़ खेलना, एवं गाना-बजाना **नागकुमार कामदेव की कथा-पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ १२६**। जल क्रीड़ा करना **सुदर्शन सेठ की कथा-पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ १०७**। बसन्तादि उत्सव मनाना, नृत्य करना एवं वेश्या द्वारा सम्पादित विविध नृत्यों को देखना, ऐसे साधन हैं जिनसे पर्याप्त मनोविनोद होता था। विद्वान तो पठन-पाठन लेखन एवं वाद-विवादों के माध्यम से मानसिक थकान को शान्त किया करते थे। अधार्मिक मनुष्य मृगया को भी आमोद-प्रमोद का साधन मानते थे। देखिए **सुवरण वैश्य की कथा–पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ १६**। विविध गोष्ठियों से भी पुरातनकालीन राजा-महाराजा अपना मनोविनोद किया करते थे। विविध कलाएँ भी आमोद-प्रमोद का साधन मानी जाती थीं।

बुद्धि-परीक्षा भी विद्वानों एवं महापुरुषों के लिए मनोविनोद का प्रमुख माध्यम था। देखिए **सम्यग्दर्शन के प्रभाव की कथा, आराधना कथाकोश भाग ३ पृष्ठ १७६-१७७**। नृपति न्याय करके एक ओर अपने कर्तव्य का पालन करते थे और दूसरी ओर अपना मनोविनोद भी कर लेते थे, देखिए **राजा का न्याय शीर्षक कहानी--दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, पृष्ठ ६३**। यहां कुछ साधनों का ही उल्लेख किया गया है।

आजीविका के साधन

मानव-जीवन में आजीविका एक विषम समस्या है। इसे सुलझाने के लिए हरेक मनुष्य सदैव प्रयत्नशील रहता है। एकाकी मानव के सामने आजीविका की समस्या साधारण सी कही गयी है। लेकिन परिवार के बोझ को ढोने वाले इंसान के लिए आजीविका का प्रश्न कभी जटिल बनता है तो कभी सामान्यतः बेचैन करने वाला। जैन कथाओं में आजीविका की समस्या को सुलझाने के लिए विविध उपायों की चर्चा हुई है। ये उपाय, सैनिक वृत्ति एवं लिपिक वृत्ति से सम्बन्धित हैं। साथ ही साथ कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं कला-कौशल से भी ये (उपाय) सम्बद्ध हैं। आदिपुराण में आजीविका के प्रमुख ६ उपायों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है:--

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजा जीवन हेतवः। [1]

जैन-कथाओं में राजा-महाराजाओं की अधिक चर्चा है। उनके शासन

1. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत–डॉ० जैन पृष्ठ ३३७

के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा गया है। नृप-युद्धों की भी यहाँ चर्चा हुई है। विविध सैनिकों के पराक्रम को भी चित्रित किया गया है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि सेनाएँ राज्य-कार्य में सहायिका बनती थी तथा प्रजा संरक्षण में इनका योगदान विशेष महत्वशाली माना गया है। नागरिक सेना में प्रविष्ट होकर अपना उदर-पोषण करते हैं तथा शासन की सेवा भी।

शासन के विविध विभागों में कार्यरत लोगों का मषि कार्य से सम्बंध रहता है। शासक से यह आशा तो नहीं की जा सकती है कि वह स्वयं लिखा-पढ़ी आदि का कार्य करे। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राज्य में मषि कार्य में संलग्न कर्मचारियों की एक बड़ी संख्या होती है। इसी कार्य से ये अपनी आजीविका के सवाल को हल करते हैं। प्राचीन एवं वर्तमान, दोनों कालों में इनकी (कर्मचारियों की) उपयोगिता असंदिग्ध है। खेती भी आजीविका का एक प्रमुख साधन है। किसानों के श्रम पर ही तो शासन का प्रभुत्व रक्षित है। कृषकों का उल्लेख करके कथाकारों ने अपने कर्तव्य को विस्मृत नहीं किया है। खेतों में अथक श्रम करके ये पृथ्वी पुत्र धरती को रत्न गर्भा प्रमाणित करते हैं। देखिए धन्यकुमार की कथा–पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ ३७७ तथा दो पायली सत्तू शीर्षक कथा–दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ पृष्ठ ९६

वैश्य व्यापार के माध्यम से पर्याप्त धन कमाया करते थे और आज भी कमाते हैं। पुरातन काल में जल-पोतों एवं नौकाओं से विदेश यात्राएं की जाती थी और व्यापार प्रवीण वणिक अनेक संकटों को सहते हुए धनोपार्जन करके अपने ऐश्वर्य में वृद्धि करते थे। इस संदर्भ में निम्नस्थ कथाएँ द्रष्टव्य हैं:—

१. श्री भूति–पुरोहित की कथा–आरा० क० को० पृष्ठ ३५ भाग २
२. लुब्धक सेठ की कथा–आरा० क० को० भाग ४ पृष्ठ १३५
३. घंटी वाला गीदड़–दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ पृष्ठ ३१
४. दो पायली सत्तू — ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ९६

अध्यापन कार्य से भी पुरातन समय में विद्वान् अपनी आजीविका का उपार्जन किया करते थे। इन जैन कथाओं के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि गायक, गान विद्या से, चित्रकार चित्रकला से, नर्तक-नृत्य कला से एवं कवि काव्य सर्जना से अपनी आजीविका का उपार्जन करते थे। आज भी ये कला विशारद विभिन्न कलाओं के माध्यम से धन कमाते हैं। निम्न जातियाँ अपने-अपने व्यवसायों को आजीविका का साधन बनाती थीं और परिवार का पालन करती थीं। आज भी यही परम्परा कुछ अंशों में जीवित है।

जैन कथाओं में गुम्फित सूक्तियाँ

सूक्ति में प्रबुद्ध जीवन का चिरानुभूत अनुभव रहता है। निरन्तर जिस सत्य को समीचीन माना जाता है वही सूक्ति बनकर लोक-प्रिय बनता है तथा उसे जनता अपनी मार्गदर्शिका मानने लगती है। चिरन्तन तथ्यों पर आधारित सूक्तियाँ जन-मानस को प्रभावित करतीहैं और विषम परिस्थितियों में एक समाधान को प्रस्तुत करके अपनी उपयोगिता को प्रमाणित कर देती हैं। जिस प्रकार प्रगाढ़ अन्धकार में अनन्त आकाश की एक तारिका पथ-विमुख पथिक को रास्ता बताती है उसी प्रकार संसार की बिभीषिकाओं से त्रस्त मानव को एक सूक्ति अमिट सहारा देकर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती है। भयावह तूफान में भ्रमित पोत को जिस प्रकार प्रकाश-स्तम्भ गन्तव्य का संकेत देता है उसी प्रकार एक सूक्ति विषम वातावरण से विक्षुब्ध मानव को सुस्थिर कर जीवन के व्यवस्थित लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए पूर्ण आश्वासन प्रदान करती है।

एक कथन जब अनेक बार सत्य की कसौटी पर खरा उतरता है तभी वह सूक्ति बन पाता है। सुन्दर उक्ति अथवा कथन ही सूक्ति कहलाता है। सूक्ति सदैव अपनाई जाती है। साधारण से साधारण मनुष्य की अभिरुचि सूक्ति में पाई जाती है। गहन से भी गहन समस्या को सुलझाने में सूक्ति बड़ी सहायक सिद्ध होती है।

अनन्त विश्व में अनुभव की विविधता सुगमता से परिलक्षित होती रहती है। अतः सूक्तियाँ भी हजारों रूपों में हमें उपलब्ध होती हैं। जीवन

का कोई ऐसा सत्य नहीं है जो सूक्ति के रूप में परिवेष्ठित न हुआ हो। अनन्त आकाश, अपरिमित जलनिधि की जल-राशि, धरती के असंख्य कण, खेती की अन्न-निधि, पवन के अगणित झकोरे, सूर्य-चन्द्र की अनन्त रश्मियाँ एवं मानव की अनन्त भाव-निधि सूक्तियाँ बनकर विश्व के कोने कोने में फैली हुई हैं। एक साधारण सी सूक्ति ने हजारों की जानें बचाई हैं एवं एक विशिष्ट सूक्ति राष्ट्र को पराधीनता के कठिन जाल से मुक्ति दिलाती है। इतिहास के पृष्ठों में ऐसे अनेक तथ्य लिखे हुए हैं, जो यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि सूक्तियों की उपयोगिता अमृत से भी अधिक है।

जैन-कथाओं में सूक्तियों के विविध रूप प्राप्त होते हैं, जिनमें धार्मिकता, राजनैतिक सौष्ठव, राष्ट्रीयता एवं नैतिकता मुखरित हुई है। इन कहानियों में विषयानुसार सुभाषितों का उल्लेख हुआ है जो कथा की कथावस्तु को सार्थक बनाती हैं। धार्मिकता इन कहानियों की आधार भूमि अवश्य है, लेकिन लौकिक अनुभवों का यहाँ तिरस्कार नहीं हुआ है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार कोणों में विभाजित सूक्तियों ने संसार की समस्त सच्चाई को इस प्रकार अपनाया है कि विश्व में जो कुछ हम तथ्य के रूप में देखते हैं वह सब इनमें विलीन हो गया है। लौकिक एवं पारलौकि दोनों तत्वों को तटों के रूप में अपनाती हुई जैन-कथा सरिता अनादि काल से प्रवाहित हो रही है।

यहाँ कतिपय सूक्तियाँ दी जा रहीं हैं जो जीवन यात्रा में पाथेय के समान उपयोगी सिद्ध होंगी :—

(१)

संसार की सभी वस्तुएं क्षणभंगुर हैं। पृ. सं. ३०

(२)

मनुष्य को अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। पृ. सं. ७७

(३)

परोपकार करना महापुण्य का कारण है। पृ. सं. ८६

(४)

पाप कर्म के कारण बड़े-बड़े विद्वान तक किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। पृ. सं. १०५

(५)

गरीबी तेरा सत्यानाश हो, तेरे जाल में फंसकर मनुष्य क्या-क्या दुष्कर्म नहीं कर डालते हैं। पृ. सं. १४५

(६)

कभी-कभी बुराई से भी भलाई हो जाती है। पृ. सं. १०५

(७)

पुण्यवान यश, वैभव,सुख को सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। पृ. सं. १६४

ये सूक्तियाँ आराधना कथाकोष भाग १ से ली गई हैं। यह पृष्ठ संख्या इसी भाग की है।

(१)

आगे जैसा अच्छा या बुरा होना होता है, जीवों का मन भी उसी अनुसार पवित्र या अपवित्र बन जाता है। पृ० सं० ३

(२)

दुर्जनों के सम्बन्ध से देश भी छोड़ना पड़ता है। पृ० सं० ७

(३)

कभी-कभी दुर्जन शत्रु बिना कारण के भी मित्र बन जाया करते हैं। पृ० सं० ६

(४)

शत्रु का भी यदि बच्चा हो तो उसे नहीं मारना चाहिये, तब दूसरों के बच्चों के सम्बन्ध में तो क्या कहें? पृ० सं० ७

(५)

सर्प के समान दुष्ट पुरुष कोई भी बुरे काम करते नहीं हिचकते। पृ० सं० १०

(६)

पुण्यवानों के लिये विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। पृ० सं० ११

(७)

जिन लोगों का हृदय दुष्ट होता है, उनके चित्त में कुछ और रहता है, बचनों से वे कुछ और ही कहते हैं, और शरीर से कुछ और ही करते हैं। पृ० सं० ११

(८)

दुष्टों की दुष्टता का पता जल्दी से कोई नहीं पा सकता है। पृ. सं. १२

(९)

जैनधर्म सबका हित करने वाला सर्वोच्च धर्म है। पृ० सं० १६७

(१०)

जो मनुष्य तिल या सरसों के बराबर भी मांस खाता है, वह नरकों में तब तक दुःख भोगा करेगा, जब तक कि पृथ्वी पर चन्द्र और सूर्य रहेंगे।

पृ० सं० १७१

ये सूक्तियां आराधना कथा कोश भाग २ से ली गई हैं, यह पृष्ठ संख्या इसी भाग की है।

(१)

सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होते। पृ० सं० १७७

(२)

शील के प्रभाव से धन-सम्पत्ति, कीर्ति, पुण्य, ऐश्वर्य, स्वर्ग-सुख आदि जितनी संसार में उत्तम वस्तुएं है, वे सब अनायास प्राप्त हो जाती हैं।

पृ० सं० २३७

(३)

जिन मंदिरों के दर्शन मात्र से पापों का नाश होता है। पृ० सं० २५१

(४)

धर्मानुराग से सत्पुरुषों एवं सहनशील महात्माओं का कौन उपकार नहीं करता। पृ० सं० १५१

(५)

धर्मात्मा पुरुष धर्म के कामों में कभी प्रमाद नहीं करते हैं।

पृ० सं० १६०

(६)

जिन पूजा सब पुण्य कर्मों में उत्तम पुण्य कर्म हैं। पृ० सं० २८४

(७)

जिन पूजा सम्यग्दर्शन रूपी वृक्ष के सींचने को वर्षा सरीखी है।

पृ० सं० २७५

(८)

अठारह दोष रहित जिन भगवान् के ज्ञान का मनन चिन्तन करना उच्च सुख का कारण हैं। पृ० सं० २४७

ये सूक्तियाँ आराधना कथा कोष भाग ३ से ली गई है । यह पृष्ठ संख्या इसी भाग की है ।

(१)

वेश्या धन की ही चाहना रखती है । यदि धन हीन पुरुष कामदेव के समान भी हो तो वेश्या उससे प्रेम नहीं करती । पृ० सं० ५६

(२)

एक अक्षर अथवा आधा पद देने वाले गुरु को भी जो भूल जाता है वह पापी है । पृ० सं० ५७

(३)

यह जीवन पानी के बुलबुले के समान क्षण भंगुर है । पृ० सं० ७२

(४)

जिनवाणी की सतत साधना से मोक्ष प्राप्ति होती है । पृ० सं० १०१

(५)

जिनागम के श्रवण-मात्र से सद्‌गति प्राप्त होती है । पृ० सं० १०३

(६)

शुद्ध हृदय से दिया हुआ दान ही सार्थक कहा गया है ।

पृ० सं० २६८

ये सूक्तियाँ पुण्याश्रव कथाकोष से ली गई हैं और यह पृष्ठ संख्या इसी कथाकोष की है ।

(१)

विचारवान पुरुषों का क्रोध सरलता से शान्त हो जाता है । पृ. सं. ४

(२)

प्रजा राजा के आचरण का अनुकरण करती है । पृ. सं. ५

(३)

साधु मुनिराज सज्जनों के लिए सदा वन्दनीय हैं । पृ. सं ७

(४)

स्वामी के बिना शौर्य कैसे रह सकता है ? नायक बिना सैन्य मरे के समान ही होती है । पृ. सं. १०

(५)

प्रायः जयाभिलाषी लोगों को प्राण तृणवत मालूम होते है । पृ. सं. १६

(६)

पराक्रमी वीरों को युद्ध के अतिथि सदा प्रिय होते हैं। पृ. सं. ५४

(७)

रत्न की सब इच्छा रखते हैं। पृ. सं. ४४

(८)

बड़े पराक्रमी वीरों के लिए क्या असाध्य है ? पृ. सं. ५८

(९)

राजा किसी के नहीं होते। पृ. सं. ६९

(१०)

सत्यवादियों के हृदयों में कभी क्षोभ नहीं होता है। पृ. सं. ७१

(११)

बिना विचारे जो कार्य करते हैं वे विपत्ति में फँसते है । पृ. सं. ७१

(१२)

पुत्र के लिए प्राणी क्या नहीं कर सकता है पृ. सं. ७२

(१३)

तेजस्वी पुरुषों को निस्तेज बनने का दुःख मृत्यु-दुःख से भी विशेष दुःखप्रद होता है। पृ. सं. ९८

(१४)

शत्रु सदा छल-निष्ठ ही होते हैं। पृ. सं. १५०

(१५)

कामातुर क्या नही करता है ? पृ. सं. १६७

(१६)

शत्रु के दीन हो जाने पर बड़े पुरुषों का क्रोध शान्त हो जाता है। पृ. सं १७०

(१७)

सामान्य अतिथि भी पूज्य होता है, तब उत्तम पुरुषों की तो बात ही क्या है ? पृ. सं. २१८

(१८)

महापुरुषों के पास की गयी याचना वृथा नहीं जाती है। पृ. सं. २५६

(१६)

महापुरुष अपने कार्य की अपेक्षा दूसरों के कार्य में अधिक यत्न करते हैं। पृ. सं. २७६

(२०)

नीच की मित्रता को धिक्कार है। पृ. सं. ३०२

(२१)

बलवान के लिए हरेक चीज शास्त्र है। पृ. सं. ३१०

(२२)

कर्म का फल अमिट है। पृ. सं. ४४२

(२३)

प्राणियों की गति कर्माधीन है। पृ. सं. ४५५

(२४)

आपत्ति में धर्म ही एक शरण है। पृ. सं. ३६३

(२५)

महात्माओं को जो प्रणाम किया जाता है वह कभी व्यर्थ नहीं जाता है। पृ. सं. ३२०

(२६)

अति उग्र पाप और पुण्य का फल मनुष्यों को यहीं मिल जाता है। पृ. सं. १३२

(२७)

अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन करना ही क्षत्रियों का कुल धर्म है। पृ. स. १४४

(२८)

उदित सूर्य को छिपाने की किसमें सामर्थ्य है? पृ. सं. १४५

(२६)

जिनका मन लोभ से पराजित हो गया है, उन्हें चिरकाल तक विवेक नहीं रहता। पृ. सं १४६

(३०)

संसार में मनुष्यों पर शोक और हर्ष आते और जाते हैं। पृ. सं, १७२

(३१)

सद् पुरुष सत्पुरुषों की रक्षा करने में कभी विलंब नहीं करते ।
पृ. सं. १७४

(३२)

मान के नष्ट होने पर जीवित रहना मृत्यु से भी अधिक दुःख रूप है ।
पृ. सं. १८६

(३३)

महात्माओं की प्रतिज्ञा पाषाण में की गई रेखा के समान होती है ।
पृ. सं. १९३

(३४)

बड़े पुरुषों की प्रतिज्ञा पर्वत के समान अचल रहती है ।
पृ० सं० २०२

(३५)

दुष्ट पुरुष सदा सबको छुरी की तरह हानि पहुँचाने वाले ही होते हैं ।
पृ० सं० २०९

ये सूक्तियाँ जैन रामायण (अनु० श्री कृष्णलाल वर्मा) से ली गई हैं । पृष्ठ संख्या उसी ग्रन्थ की है ।

(१)

धधकती अग्नि में प्रवेश करना अच्छा है लेकिन चिरकाल से ग्रहण किये गए व्रत का भंग करना ठीक नहीं । विशुद्ध कर्म करते हुए मर जाना अच्छा है परंतु शील का भंग करते हुए जीवित रहना उचित नहीं है । **बृहत्कथा कोश भाग १ पृष्ठ ४२ ।**

(२)

राजा एक बार कहते हैं, साधु एक बात करते हैं और कन्याएँ एक बार दी जाती हैं । ये तीन बातें एक ही बार हुआ करती हैं । **बृहत्कथा कोश भाग १ पृष्ठ ५६**

(३)

लक्ष्मी विनय के बिना सुशोभित नहीं होती, रात्रि चन्द्रमा के अभाव में सुखद नहीं होती और सत्कवित्व के बिना वाग्विलास भी चमकता नहीं ।

बृहत्कथा कोश भाग १ पृष्ठ ८२

(४)

दुर्जन के पास न बैठना चाहिये और न उसके साथ चलना ही चाहिए। मद्य पीने वालों के साथ यदि कोई दूध भी पीए तो मनुष्य उस दूध को भी मदिरा ही समझते हैं। बृहत्कथा कोश भाग १ पृष्ठ १३५

(५)

सोने के सुमेरु पर्वत और सम्पूर्ण पृथ्वी का भी दान एक व्यक्ति को दिए जीवन-दान की तुलना में नगण्य है। बृहत्कथा कोश भाग २ पृष्ठ १८२

(६)

सौभाग्य, धन-सम्पत्ति, विमलयश, वशीकरण और निरोगता मनुष्यों को धर्म से प्राप्त होते हैं। बृहत्कथा कोश भाग २ पृष्ठ २४३

जैन कथाओं में नारी

युगों के परिवर्तन के साथ नारी की स्थिति परिवर्तित हुई और उसने कभी सम्मान प्राप्त किया तो कभी निरादर की विषाक्त घूंट पीकर स्वयं को धिक्कारा। कभी वह नर की दासी बनी और उसे आराध्य माना तो कभी सेविका बनकर उदर-पूर्ति के लिए दर-दर मारी फिरी। स्वार्थी पुरुष ने इस त्यागमयी नारी को अपने दासत्व में रखकर ही सुख की सांस ली। उसे ज्ञात था कि एक बार स्वतंत्र होने पर नारी अपनी प्रतिभा के बल पर सारे विश्व को प्रभावित कर सकती है। धर्मशास्त्रों ने नारी की स्वतन्त्रता पर अनेक अंकुश लगाए और सदैव उसे शंका की भावना से देखा। सहिष्णुता की प्रतिमा इस देवी ने सब कुछ सहा और शनैः शनैः अपने आपको चेरी मानने में ही आनन्द का अनुभव किया, किन्तु निरन्तर अपमानित होने से उसकी आत्मा ने विद्रोह किया और नीति-निपुण पुरुष ने अपना दृष्टिकोण बदलकर उसे कुछ अधिकार देने का आश्वासन दे दिया।

नारी की बर्बादी और आजादी की एक लम्बी कहानी है। सन्त कवियों ने तो इसी जननी रूपा नारी को विषय-वासना की प्रतिमूर्ति कहकर नरक द्वार के रूप में इसे अपमानित किया और सर्पिणी से भी अधिक भयानक इसे बताया। हाँ कतिपय काव्यकार एवं लेखक ऐसे भी हुए जिन्होंने नारी-निंदा की कटु आलोचना की और शक्ति स्वरूप नारी को विश्व-संस्कृति की आधार-भूमि बताया। श्री अद्भुत शास्त्री ने अपनी 'नारी' शीर्षक कविता में इस महिमामयी की इस प्रकार वंदना की है :

प्रबल शक्ति री, जग की धात्री नारी
नव निर्माण करो तुम।
आशाओं की चिर अभिनेत्री,
प्रतिपल जग का मान करो तुम।

तेरे स्वर के ही संयम ने, सर्जनकर संसार बसाया,
जगती के कल्पित सपनों में, वह पावन सा प्यार जगाया।
तेरे अभिनव इन अधरों ने, उल्लासित शृंगार किया था,
प्रलय-पुरुष मनु को श्रद्धा बन, मीठा सा उपहार दिया था।
महिमा मयी महामाया हो, चपला सी प्रतिमा चंचल,
तेरे चरणों की छाया में गिरता-उठता जग प्रतिपल।
अधरों में तुम विश्व छिपाए, जीवन में बढ़ती जाती हो,
आंधी आए बिजली कड़के, तूफानों को सहती जाती हो।
युग देवी, तेरी सत्ता का आदि नहीं है, अन्त नहीं है,
तुझ में जो कुछ मिल जाता है, उसका भी तो अन्त नहीं है।

कविवर प्रसाद ने नारी को श्रद्धा-रूप में सम्मानित कर अपने महाकाव्य कामायिनी की सृष्टि को सफल माना है। इसी प्रकार कवि पन्त ने 'पल्लव' में कल्याणी, सुकुमार, स्नेहमयी आदि सम्बोधनों से नारी को सम्मानित किया है—

स्नेहमयि ! सुन्दरतामयि !
तुम्हारे रोम-रोम से नारि !
मुझे है स्नेह अपार,
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि।
मुझे है स्वर्गागार ।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल—दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता अभिमान,
शक्ति, पूजन, सम्मान,
अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों की संधान !
तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन, गंगा-स्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि।

त्रिवेणी की लहरों का गान।
उषा का था, उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों के सांस।

सामाजिक सीमाओं की परिधि में आबद्ध नारी के विविध स्वरूप हमें जैन कथाओं में देखने को मिलते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव की जननी के रूप में वह विश्व वन्दनीय है तो वैधव्य के शाप से शापित वह सर्वत्र अपमानित है। कभी वह महिषी बनकर राज-सभा में बैठती है तो कभी चेरी बनकर अपने सतीत्व को भी कतिपय मुद्राओं की उपलब्धि के लिए बेचने को बाध्य होती है। कभी वह अपनी प्रवीणता से राजाओं को चकित करती है तो कभी सौत से प्रपीड़ित बनकर आत्महत्या के कूप में स्वयं को पटक देती है। कभी वह आवेश में आकर पाप-कर्म करने के लिए कटिबद्ध होती है और फलतः अपने सौन्दर्य को खोकर अपकीर्ति के दल-दल में फँस जाती है तो कभी साध्वी बनकर आध्यात्मिक उपदेशों की वर्षा करने लगती है। कभी वह वेश्या बनकर अपनी उदर पूर्ति हेतु जघन्य से जघन्य पाप करने को आतुर होती है तो कभी अपने सतीत्व के कारण देवताओं की आराध्य देवी बन जाती है। कभी वह पतिव्रता बनकर एक महान् आदर्श की स्थापना करती है तो कभी व्यभिचारिणी बनकर अपनी कामातुरता का प्रदर्शन कर लोक में घृणा की दृष्टि से देखी जाती है आदि, आदि। यहां जैन कथाओं के माध्यम से नारी के विविध वाञ्छनीय एवं अवाञ्छनीय रूपों की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती है—

(१) माली की दो लड़कियाँ केवल जिन मंदिर की देहली पर एक-एक फूल चढ़ाने के कारण मरने के उपरान्त सौधर्म इन्द्र की पत्नियाँ बनी थी। **माली की लड़कियों की कथा—पुण्याश्रव कथा कोश, पृष्ठ १**

(२) श्रावस्ती नामक नगरी के सेठ सागरदत्त की पत्नी नागदत्ता सोमशर्मा नामक ब्राह्मण से अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर अपनी पतन-शीलता का परिचय देती है। **कर कुण्ड की कथा—पुण्याश्रव कथा कोश**

(३) सुदर्शन सेठ की कथा में रानी अभयवती लज्जा के कारण आत्मघात करती है और पंडिता नाम की सखी भागकर पटना में वेश्या बनकर रहने लगती है। **पुण्याश्रव कथा कोश**

(४) रानी प्रभावती अपने शील के प्रभाव से देव-पूज्या बनती है और नारी के आदर्श को संसार के सम्मुख रखकर नारी-जाति की प्रतिष्ठा बढ़ाती है। **प्रभावती रानी की कथा, पु० क० को०**

(५) नीलीबाई ने अपने शीलव्रत की परीक्षा में सफलता प्राप्त की और नगरदेव ने उनकी प्रशस्ति का गान किया।

नीली बाई की कथा, पु० क० कोश

(६) काश्मीर नरेश की त्रिभुवनरति नामक पुत्री अपने वीणा-वादन कुशलता का प्रदर्शन करती है और घोषणा करती है कि जो उसे वीणा के बजाने में पराजित करेगा वही उसका पति होगा।

नागकुमार कामदेव की कथा, पु० क० कोश

(७) मैना सुन्दरी अपनी व्रत-साधना के बल पर अपने पति को कुष्ठ-रोग से मुक्त करती है।

श्रीपाल एवं मैना सुन्दरी की कथा, पुण्याश्रव कथा कोश

(८) सोम शर्मा ब्राह्मण की पत्नी अकारण ही स्वपति से डंडों की मार खाकर अपने भाग्य को कोसती है और अपने अबोध बच्चों को साथ लेकर गिरनार पर्वत पर भगवान की शरण में रहने लगती है।

अग्निला ब्राह्मणी की कथा, पुण्याश्रव कथा कोश

(९) रानी मदन सुन्दरी अपनी दृढ़ता एवं सत्याग्रह से जैन धर्म की प्रभावना करती है और प्रभावती देवी के आसन को कम्पायमान कर देती है।

आराधना कथा कोश भाग १, पृष्ठ १८२

(१०) रानी चेलिनी सम्राट् श्रेणिक को प्रबोधन देकर अपने कर्त्तव्य का पालन कराती है।

आ० क० कोश भाग १—महाराज श्रेणिक की कथा—पृष्ठ १५४

(११) राजा सिंहसेन की रानी रामदत्ता अपने चातुर्य से पुरोहित के कहने से समुद्रदत्त के रत्नों को प्राप्त करती है और न्याय का एक आदर्श उपस्थित करती है। **श्रीभूति पुरोहित की कथा, आ० क० को० भाग २**

(१२) चारु दत्त सेठ की कथा से स्पष्ट है कि नारी वेश्या बनकर कितनी कठोरता से मानवता का नाश करती है।

(१३) विवाह एक धार्मिक संस्कार है जिसमें दो हृदयों का आजीवन बन्धन स्वीकृत किया जाता है। ऐसी स्थिति में कन्या के विचारों का जानना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में प्रभावती का कथन उल्लेख्य है। प्रभावती के सकल कलाओं में निपुण तथा जवान होने पर एक दिन वायुरथ प्रभावती से बोला बेटी, सम्पूर्ण विद्याधरों के कुमारों में तुझे कौन श्रेष्ठ जान पड़ता है, जिसके साथ तेरा विवाह कर दूं। प्रभावती बोली, पिताजी, मुझे जो गति-युद्ध में जीत लेगा, उसी के साथ विवाह करूँगी अन्य के साथ नहीं।"

जयकुमार-सुलोचना की कथा-पुण्याश्रव कथाकोश—

(१४) ऐसी अनेक जैन कथाएँ हैं जिनमें बताया गया है कि अनेक विद्याओं में निपुण बनकर नारियों ने धर्म प्रचार किया एवं सांसारिक माया का परित्याग कर मानव सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया ! भगवान महावीर की शिष्या चन्दनबाला ऐसी ही एक स्त्री-रत्न थी। इसी चन्दना (चन्दनबाला) ने महावीर के धर्म में दीक्षा लेकर और उनकी प्रथम शिष्या बनकर संघ का नेतृत्व किया था। **दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, डॉ० चन्द्र जैन ,पृष्ठ १०१**

(१५) मनुष्यों की तुलना में नारी अधिक दृढ़ प्रतिज्ञ होती है। एक बार जो वह निर्णय ले लेती है उसके पालनार्थ वह दृढ़ संकल्पी बन जाती है। राजीमती की दृढ़ता यहाँ उदाहरण के रूप में उल्लेख्य है। नेमिकुमार जब (दीक्षा लेकर) **साधु बनकर गिरनार पर्वत पर तपस्या करने लगे, तब** राजीमती ने भी अविवाहित रहने का दृढ़ निश्चय किया और श्री नेमिनाथ की अनुगामिनी बन गई। तपस्विनी बनकर जिस साहस का प्रदर्शन राजीमती ने किया वह नारी के स्वाभिमान एवं दृढ़ता को प्रमाणित करता है। **राजीमती की दृढ़ता, दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, ले० डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृष्ठ १८३ ।**

यहाँ यह कहना उचित ही है कि अधिकांश कथाओं की प्रमुख पात्र नारी ही हैं।

इन जैन कथाओं में चित्रित नारियों को दैवी, मानवी और राक्षसी इन तीन रूपों में साधारणतः विभाजित किया जा सकता है। समाज की सुदृढ़ नींव नारी में धार्मिकता पुरुष की तुलना में अधिक है। वे अपेक्षाकृत अधिक धार्मिक, पवित्र, त्यागशीला और भावुक हैं। राष्ट्रपिता बापू के मतानुसार जीवन में जो कुछ पवित्र तथा धार्मिक है, स्त्रियाँ उसकी विशेष सरक्षिकाएँ हैं। स्त्री जाति में छिपी हुई अपार शक्ति उसकी विद्वत्ता अथवा शरीर बल की बदौलत नहीं है, इसके कारण उसके भीतर भरी हुई उत्कट श्रद्धा, भावुकता और त्यागशक्ति है। हमें यह स्वीकारना होगा कि जगत में धर्म की रक्षा मुख्यतः स्त्री जाति के बदौलत हुई है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जैन धर्म की सबसे बड़ी उदारता यह है कि पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी तमाम धार्मिक अधिकार दिये गये हैं। जिस प्रकार पुरुष पूजा-प्रक्षाल कर सकता है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी कर सकती हैं। यदि पुरुष श्रावक के उच्च व्रतों का पालन कर सकता है तो स्त्रियाँ भी उच्च श्राविका बन सकती हैं। यदि पुरुष ऊँचे से ऊँचे धर्म ग्रन्थों

के पाठी हो सकते हैं तो स्त्रियों को भी यह अधिकार है। यदि पुरुष मुनि हो सकता है तो स्त्रियाँ भी आर्यिका होकर पंच महाव्रत धारण कर सकती हैं।

जैन शास्त्रों में स्त्री-सम्मान के भी अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। जैन राजा राजसभा में अपनी रानियों का उठकर सम्मान करते थे और अपना अर्द्धासन उन्हें बैठने को देते थे। इसी प्रकार महारानियों का राजसभाओं में जाने और वहाँ पर सम्मान प्राप्त करने के अनेक उदाहरण जैन शास्त्रों में भरे पड़े हैं। जैन ग्रन्थ स्त्रियों को ग्यारह अंगों के पठन-पाठन करने का अधिकार देते हैं। जयकुमार भगवान का द्वादशांगधारी गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अंग की धारक आर्यिका हुई। इसी प्रकार स्त्रियाँ सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययन के साथ ही जिन प्रतिमा का पूजा-प्रक्षाल भी करती थीं। अंजना सुन्दरी ने अपनी सखी बसन्तमाला के साथ वन में रहते हुए गुफा में विराजमान जिन मूर्ति का पूजन-प्रक्षाल किया था। मैना सुन्दरी प्रति-दिन प्रतिमा का प्रक्षालन करती थी और अपने पति श्रीपाल राजा को गंधोदक लगाती थी।

भगवान महावीर के शासन में महिलाओं के लिए बहुत उच्च स्थान है। महावीर स्वामी ने स्वयं अनेक महिलाओं का उद्धार किया था। चंदना सती को एक विद्याधर उठा ले गया था, वहाँ से वह भीलों के पंजे में फँस गई। जब वह जैसे तैसे छूट कर आई तो स्वार्थी समाज ने उसे शंका की दृष्टि से देखा। उसे सब तिरस्कृत करते थे। तब भगमान महावीर ने उसके हाथ से आहार ग्रहण किया और वह भगवान महावीर के संघ में सर्व श्रेष्ठ आर्यिका हो गई। इसी से सिद्ध है कि जैन धर्म में महिलाओं को उतना ही उच्च स्थान प्राप्त है जितना कि पुरुषों को।" **जैन-धर्म की उदारता ले. पं. परमेष्ठीदास जैन।**

जैन कथाओं में ऐतिहासिकता

इतिहासकारों ने कथाओं की उपयोगिता को स्वीकार किया है। कई देशों के इतिहासों की सृष्टि तो इन कथाओं के आधार पर ही हुई है। लोक-मानस में बसी हुई ये कथाएँ निष्पक्ष भाव से इतिहास के तथ्यों को दुहराती हैं और काल के प्रभाव से अप्रभावित रहकर ये कहानियाँ कई युगों तक इतिहास के तथ्यों को नष्ट होने से बचाती हैं। इतिहास शब्द के संकीर्ण अर्थ को न स्वीकार कर मैंने इसे व्यापक अर्थ में व्यवहृत किया है और इसीलिए विभिन्न दृष्टियों से ऐतिहासिकता का इन कथाओं के आधार पर परीक्षण करने का भी प्रयास किया है। धार्मिक विकास, सामाजिक उत्थान, राजनैतिक विकास आदि में भी तो ऐतिहासिकता अपेक्षित है। ऐसी परिस्थिति में ये कथाएँ विशेष महत्वशालिनी सिद्ध हो सकती हैं।

श्रद्धेय डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ' में संगृहीत ऐतिहासिक कहानियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह तर्क संगत एवं मनन करने योग्य है। वे लिखते हैं "इन कहानियों का संकलन यथासंभव ऐतिहासिक सूत्र से किया गया है। महावीर और बुद्ध के समकालीन अनेक राजा-रानियों का उल्लेख प्राकृत और पालि साहित्य में आता है। जैनों ने इन राजाओं को जैन कहा है और बौद्धों ने बौद्ध। वस्तुतः राजाओं का कोई धर्म विशेष नहीं होता, वे प्रत्येक महान पुरुष की सेवा उपासना करने में अपना धर्म समझते हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में

साम्प्रदायिकता का वैसा जोर नहीं था जैसा हम उत्तर काल में पाते हैं। इसीलिए उस समय जो साधु-सन्त नगरों में पधारते थे, उनके आगमन को अपना अहोभाग्य समझकर नगर के सभी नर-नारि उनके दर्शनार्थ जाते थे। ऐसी दशा में श्रेणिक बिम्बसार, कूणिक (अजातशत्रु) और चन्द्रगुप्त आदि राजाओं के विषय में संभवतः यह कहना कठिन है कि वे महावीर के विशेष अनुयायी थे या बुद्ध के।

तत्पश्चात् नन्द राजाओं का जिक्र आता है। जैन परम्पराओं के अनुसार कूणिक का पुत्र उदायी बिना किसी उत्तराधिकारी के मर गया। उस समय एक नापित पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा, और यह प्रथम नन्द कहलाया। नन्दों का नाश कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को किस प्रकार पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठाया, इसका विस्तृत वर्णन आवश्यकचूर्णी तथा बौद्धों की महावंश टीका में आता है।

तत्पश्चात् उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल का जिक्र आता है। जैन परम्परा के अनुसार ईरान के शाहों ने गर्दभिल्ल को हराकर उज्जयिनी में अपना राज्य कायम किया। उसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को हराकर फिर से उज्जयिनी पर अधिकार किया। इसी समय से विक्रम संवत् का आरम्भ माना जाता है। ईरान के दूसरे बादशाह नभोवाहन या नहपान का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। नभोवाहन भरनयकच्छ (भड़ोंच) में राज्य करता था, और उसके पास अटूट धन था। नभोवाहन और पइट्ठान (पैठन) के राजा सालिवाहन (शालवाहन) के युद्ध का उल्लेख आता है, जिसमें अन्त में सालिवाहन की विजय बतायी गयी है। सालिवाहन के मंत्री अपने राजा को छोड़कर नभोवाहन से जा मिलने संबन्धी कूटनीति की तुलना अजातशत्रु के मंत्री वर्षकार के लिच्छवियों से जा मिलने के साथ की जा सकती है। इन कहानियों से प्राचीन भारत की सामाजिक अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय के सामन्त लोग बहुत विलासी होते थे, बहुपत्नीत्व प्रथा का चलन था। कूटनीति के दाँव-पेंच काम में लाये जाते थे। महायुद्ध होते थे। राजा की आज्ञा पालन न करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। कैदियों को बन्दीग्रह में कड़ी यातनाएँ भोगनी पड़ती थी, सामन्त लोग छोटी बातों पर लड़ बैठते थे। राजा यथासंभव क्षत्रिय धर्म का पालन करते थे। शरणागत की रक्षा करना परम धर्म समझते थे, और निःशस्त्र पर हाथ उठाना क्षत्रियत्व का अपमान समझते थे। राजा और सेठ-साहूकार अतुल धन संपत्ति के स्वामी होते थे।

साधारणतया लोग खुशहाल थे, परन्तु दरिद्रता का अभाव नहीं था। दास प्रथा मौजूद थी, ऋण आदि न चुका सकने कारण दास-वृत्ति अंगीकार करनी पड़ती थी। स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी नहीं थी, यद्यपि वे मेले उत्सव आदि के अवसर पर स्वतंत्रता पूर्वक बाहर आ जा सकती थीं। वेश्याएँ नगरी की शोभा मानी जाती थीं, और राजा उनके रूपबल की प्रशंसा करता था। व्यापार बहुत तरक्की पर था। व्यापारी लोग दूर-दूर तक अपना माल लेकर बेचने जाते थे।[1]

कुछ जैन कथाएँ तो हजारों वर्ष पुरानी हैं, जिनके अध्ययन से भारत के प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। समय के अन्तराल से अनेक ऐतिहासिक तथ्य धूमिल हो रहे हैं और उनकी सच्चाई पर सन्देह भी होने लगा है, लेकिन सतत निष्पक्ष अन्वेषण से सत्य स्पष्ट हो ही जाता है। कतिपय ऐसी जैन कथाएँ हैं जिनमें कल्पना के सहारे रोचकता की अभिवृद्धि की गई है लेकिन ऐतिहासिकता की उपेक्षा नहीं हो पाई है।

चाणक्य के क्रोध ने किस प्रकार की कूटनीति की सर्जना की और किस ढंग से नन्द वंश को विनाश की आग में पटका, इसका परिज्ञान नन्दि-मित्र की कथा (पुण्याश्रव कथाकोष–पृष्ठ १६३) से हो सकता है। रामकथा से सम्बन्धित जैन कथाओं के अनुशीलन से कई ऐसे तथ्य सामने आते हैं जो प्राचीन इतिहास की सच्चाई को प्रभावित करते हैं और वानर-वंश एवं राक्षस-वंश की ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखते हैं। पटना (पाटलिपुत्र) राजगृही, बनारस, विन्ध्यदेश, उज्जयिनी, विदिशा, अयोध्या, हस्तिनापुर, खानदेश कौशाम्बी, चम्पापुर, चोल देश, बुन्देलखंड, बघेलखंड, विहार, उड़ीसा, महाराष्ट्र, कुंतलदेश, सोरठ आदि की राजव्यवस्था क्या थी? इन भू-भागों की प्राचीनता क्या है, यहाँ के शासकों की पुरातन शासन प्रणाली क्या थी? इत्यादि का परिचय हमें जैन कथाओं से उपलब्ध हो सकता है।

द्यूत,[1] स्वयंवर[2] नाग पूजा[3], यक्ष-पूजा[4], दहेज-प्रथा[5], वेश्या-वृत्ति[6], नरमांस-भक्षण[7], बहुपत्नी-प्रथा[8], विजातीय विवाह[9] आदि की पुरातनता को जानने के लिए निम्न जैन कथाओं का अध्ययन भी सहायक सिद्ध हो सकता है।

1. नागकुमार कामदेव की कथा— पुण्याश्रव कथाकोश
2. पूतिगंधा और दुर्गन्धा की कथा— पुण्याश्रव कथाकोश

---

1. दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ-(भूमिका पृष्ठ १०–११)

3. सूर्यमित्र और चांडाल पुत्री की कथा ,, ,,
4. लोक-देवता (प्रो० चेतनप्रकाश पाटनी) मरुधर केशरी अभिनन्दन ग्रन्थ
5. मृगसेन धीवर की कथा– आ. क. को. दूसरा भाग
6. दृढ़ सूर्य चोर की कथा– पुण्याश्रव कथाकोश
7. जैन रामायण चतुर्थ सर्ग (कृष्णलाल वर्मा) पृष्ठ १५३
8. श्री बज्रकिरण राजा की कथा आ. कथा कोश
9. नागकुमार कामदेव की कथा ,, ,,

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आम्नायों का क्या इतिहास है और इनका विकास किस प्रकार हुआ है ? इस सन्दर्भ में नन्दिमित्र की कथा, पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ २६८ पर्याप्त प्रकाश डालती है।

वेश्या-वृत्ति का भी एक इतिहास है। प्राचीन काल में राजकुमार शिष्टाचार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वेश्याओं के यहाँ भेजे जाते थे और ये राजपुत्र वहाँ रहकर जीवनोपयोगी बहुत सी बातो को सीखते थे। ये गान-नृत्य विशारदा वेश्याएँ अपने सद्व्यवहार एवं शिष्टाचार-पद्धति से अनेक युवकों को सहज ही में विमोहित कर लेती थीं। कुछ ऐसी कथाएँ भी उपलब्ध होती हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कभी-कभी नवयुवक वेश्या की पुत्रियों से विवाह भी कर लेते थे। इस सम्बन्ध में नागकुमार कामदेव की की कथा उल्लेख्य है।[1] इस कथा को उद्धृत करते हुए श्री परमेष्ठीदास जी जैन लिखते हैं कि जैन शास्त्रों में विजातीय विवाह के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। नागकुमार ने तो वेश्या पुत्री से विवाह किया था, फिर भी उनने दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण की थी। इतना होने पर भी वे जैनियों के पूज्य बने रहे। जैन शास्त्रों में जब इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनमें विवाह सम्बन्ध के लिए किसी वर्ण, जाति या धर्म का विचार नहीं किया गया है और ऐसे विवाह करने वाले स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, तब एक ही वर्ण एक ही धर्म और एक ही प्रकार के जैनियों से पारस्परिक सम्बन्ध (अंतर्जातीय विवाह) करने में कौन सी हानि है ?[2]

---

1. पुण्याश्रव कथाकोश, दूसरी वृत्ति, प्रकाशक जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, पृष्ठ १२६
2. जैनधर्म की उदारता पृष्ठ ६८

स्वयम्बर-प्रथा की यदि हम इतिहास-क्रम से समीक्षा करें तो हमें ये जैन-कहानियाँ बड़ी सहायक होंगी। इसी प्रकार म्लेच्छों के प्रति जो अनुदारता आज दिखाई जा रही है वह पूर्व में न थी। अनेक नरेशों ने म्लेच्छ कन्याओं के साथ विवाह करके प्राचीन काल में उनके साथ (म्लेच्छों के साथ) आत्मीयता स्थापित की थी। वस्तुतः ये मानव ही हैं और इनकी आत्मा को हमें अमानवीय व्यवहार से नहीं दुखाना चाहिए।

जैन शास्त्रों को, कथा ग्रन्थों को या प्रथमानुयोग को उठाकर देखिए। उनमें आप को पद पद पर वैवाहिक उदारता दिखाई देगी। पहले स्वयम्बर प्रथा चालू थी, उसमें जाति या कुल की चिन्ता न करके गुण का ही ध्यान रखा जाता था। जो कन्या किसी भी छोटे या बड़े कुल वाले को उसके गुणों पर मुग्ध होकर विवाह लेती थी उसे कोई बुरा नहीं कहता था। हरिवंश पुराण में इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि स्वयम्बर गत कन्या अपने पसंद वर को स्वीकार करती है, चाहे वह कुलीन हो या अकुलीन। कारण कि स्वयम्बर में कुलीनता-अकुलीनता का कोई नियम नहीं होता। (जैन धर्म की उदारता पृष्ट ६३) जैन-पुराणों के अध्येताओं से यह तथ्य छिपा हुआ नहीं है कि तद्भव मोक्षगामी महाराजा भरत ने बत्तीस हजार म्लेच्छ कन्याओं से विवाह किया था, किन्तु उनका स्तर कम नहीं हुआ था। जिन म्लेच्छ कन्याओं को भरत ने विवाहा था वे म्लेच्छ धर्म-कर्म विहीन थे। उसी प्रकार भगवान शान्तिनाथ (चक्रवर्ती) सोलहवें तीर्थंकर हुए हैं। उनकी कई पत्नियाँ तो म्लेच्छ कन्याएँ थी। **जैनधर्म की उदारता, पृष्ठ ६६,६७** चक्रवर्तित्व की विभूति के प्रमाण में बत्तीस हजार म्लेच्छ राजाओं की पुत्रियों का भी उल्लेख किया गया है। देखिए-**पुण्यास्त्रव कथाकोश पृष्ठ ३५७।**

इस प्रकार इन कथाओं का अध्ययन इतिहास के विविध दृष्टिकोणों को ध्यान में रख कर किया जा सकता है तथा इस अध्ययन में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

संस्कृत भाषा में लिखे हुए जैन पुराण ग्रन्थ अति प्राचीन हैं। उनमें अपेक्षाकृत बहुत अधिक ऐतिहासिक सामग्री सीधी-सादी भाषा में सुरक्षित है। अलबत्ता कहीं-कहीं पर उसमें धार्मिक श्रद्धा की अभिव्यंजना, कर्म सिद्धान्त की अभिव्यक्ति को लिए देखने को मिलती है।

जैन पुराणों के साथ ही जैन कथाओं के महत्व को नहीं भुलाया जा सकता जिनमें बहुत सी छोटी-छोटी कथाएँ संगृहीत हैं। ऐसे कथा ग्रन्थ, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़ आदि भाषाओं में मिलते हैं। इनमें

अनेक कथा ऐतिहासिक तत्व को लिए हुए हैं। किसी में भेलसा (विदिशा) पर म्लेच्छों (शकों) के ऐतिहासिक आक्रमण का उल्लेख है तो किसी में नन्द राजा और उनके मंत्री शकटार आदि का वर्णन है। किसी में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त और उनके गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु का चरित्र-चित्रण किया गया है तो किसी ग्रन्थ में उज्जैन के गर्दभिल्ल और विक्रमादित्य का वर्णन है। सारांश यह कि जैन कथा ग्रन्थों में भी बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पड़ी है। महाकवि हरिषेण विरचित कथाकोश विशेष रूप से दृष्टव्य है।

जैन साहित्य में कुछ ऐसे काव्य एवं चरित्रग्रन्थ भी हैं जो विशुद्ध ऐतिहासिक हैं। उनमें ऐतिहासिक महापुरुषों का ही इतिहास ग्रन्थबद्ध किया गया है। इस प्रकार का पर्याप्त साहित्य श्वे० जैन समाज द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, ऐतिहासिक रास संग्रह आदि पुस्तकें उल्लेखनीय है। पार्श्वचरित्र, महावीर चरित्र, भुजबलि चरित्र, जम्बूस्वामी चरित्र, कुमारपाल चरित्र, वस्तुपाल रास इत्यादि अनेकानेक चरित्र ग्रन्थ इतिहास के लिए महत्व की वस्तु हैं।

जैन संस्कृत साहित्य में पुरातन प्रबंध ग्रन्थ इतिहास की दृष्टि से विशेष मूल्यवान हैं। ये प्रबंध-ग्रन्थ एक प्रकार के विशद निबन्ध हैं, जिनमें किसी ऐतिहासिक घटना अथवा विद्वान् या शासक का परिचय कराया गया है। श्री मेरुतुंगाचार्य का प्रबन्ध चिन्तामणि प्रबंध-ग्रन्थों में उल्लेखनीय है, जो सिंघी जैन ग्रन्थमाला में छप भी चुका है। इस प्रकार जैन साहित्य में इतिहास की अपूर्व सामग्री बिखरी पड़ी है। दक्षिण के जैन कन्नड़ और तामिल साहित्य में भी अपार ऐतिहासिक सामग्री सुरक्षित है किन्तु उसके अन्वेषण की आवश्यकता है। तामिल का 'शिलप्पाधिकारम्' काव्य और कन्नड़ का 'रावली कथा' नामक ग्रन्थ भारतीय इतिहास के लिए अनूठे ग्रन्थ रत्न हैं।[1]

---

1. जैन साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री-ले० श्री कामता प्रसाद जैन (प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ) पृष्ठ ४५८

जैन कथाओं में अलौकिक तत्व

अलौकिकता जैन कथाओं की एक विशेषता है जो इनकी रोचकता को बढ़ाती है और कथानक में एक विशिष्ट मोड़ को जन्म देकर उसकी अभिवृद्धि में नूतनता उत्पन्न करती है। यही अलौकिता पाठक एवं श्रोता के मानस में कौतूहल समुत्पन्न करके कथा के प्रति नूतन आकर्षण बनाये रखती है। पात्रों के चरित्रों के विकास में इस अलौकिकता का निशेष महत्व है।

वस्तुतः लोक-समाज में हास्य-कथाओं के समान अलौकिक कथाएँ भी अत्यधिक प्रिय है तथा उनका विशिष्ट स्थान है। मनुष्य अलौकिक तत्वों की कल्पना सदैव से किसी न किसी रूप में अवश्य करता रहा है जो उसके सब कार्यों को सुगम बना सकें तथा जिसके माध्यम से वह अलभ्य वस्तुओं को भी प्राप्त कर सके। वह अपने जीवन का अधिक समय कल्पना लोक में व्यतीत करता है तथा अपनी अतृप्त इच्छाओं को इसी के द्वारा पूर्ण करता है। इन सब भावनाओं की पूर्ति इन्हीं कहानियों के द्वारा होती है। अलौकिक कहानियाँ यद्यपि असत्य होती हैं और मनुष्य को वास्तविक जगत से दूर ले जाती हैं पर मनुष्य की अतृप्त आकांक्षाओं को पूरा करती रहती हैं। इसीलिए उसे इस प्रकार की कहानियों को सुनकर बड़ा आनन्द मिलता है जो क्षणिक ही होता है। यही कहानियाँ मनुष्य के अन्तर्मन में उपस्थित उस अदभुत मानव की परोक्ष रूप से पूर्ति करती रहती हैं जो ऐसे दानव को विजय करना चाहता है जो उसकी सेवा में रह सके तथा उसको धन दे सके, ऐश्वर्य दे सके और यही

का अद्‌भुत मानव भ्रमी जल आदि पीकर अमर हो जाना चाहता है । इन अलौकिक कहानियों में सदा यह देखने को मिलता है कि जो सत्यनिष्ठ है वह बड़ी से बड़ी विरोधी शक्तियों से भी संघर्ष करके अंत में विजयी होता है । इन कहानियों की अलौकिकता में लोक-मानव का इतना ही विश्वास है जितना अन्य अंधविश्वासों में । वह दानव, परी, भूत, प्रेत, जादू आदि में विश्वास करने के कारण इन कहानियों को भी बहुत आस्था से कहता और सुनता है । कई बार ये लोग भूत, प्रेत, दानव तथा जादू भी सिद्ध करते पाये जाते हैं ।"[1]

जैन-कथाओं में अलौकिकता का अंश पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है लेकिन इस प्रकार की अलौकिक कथाएँ सर्वथा असत्य नहीं होती है । एक ओर ये कहानियाँ महापुरुषों तथा जैन मुनियों के अलौकिक प्रभाव को प्रदर्शित करती हैं और दूसरी ओर जैन धर्म के अनुयायियों के सन्मुख यह प्रमाणित करती हैं कि जैन-धर्म का प्रभाव प्रदर्शन प्रायः विश्व की समस्त धर्म सम्बन्धी कहानियों में देखने को मिलता है । यही अलौकिक तत्व धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करता है एवं मानव-समाज को धर्म-भीरु बनाता है । ऋषि-मुनियों ने इसी प्रकार की अलौकिक कथाओं की सृष्टि करके लोक-जीवन में धार्मिकता को स्थिर किया है जो कई युगों के व्यतीत हो जाने पर भी आज लोक-मानस में पूर्ववत् सुदृढ़ है ।

आज के इस वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के अलौकिक तत्वों को कपोल कल्पित कहा जा रहा है, लेकिन जिस प्रकार विज्ञान ने अपनी गरिमा के माध्यम से अनेक विचित्र तथ्यों को संसार के आगे सहज रूप में प्रमाणित कर दिया है उसी प्रकार यदि अन्वेषण किया जाय तो जैन-कथाओं में वर्णित कई 'आश्चर्य' सत्य सिद्ध हो सकते हैं । वीतरागी जिनदेव द्वारा कथित अलौकिक तत्वों को हम निस्सार नहीं मान सकते हैं । मानव अपनी सीमित मेधा से इन्हें नापने का असफल प्रयत्न न करे तो श्रेयस्कर ही है । यह पूर्ण सम्भव है कि आज के वैज्ञानिक यदि जैन-आश्चर्यों की पूर्ण खोज करें तो उन्हें ऐसे तथ्यों का परिज्ञान होगा जो उन्हें शाश्वत सत्य की ओर आकर्षित करेंगे और विश्व के सन्मुख कई नूतन सत्य साकार बनेंगे ।

जैन धर्म आत्मा की अनन्त शक्ति में विश्वास करता है और इसकी यह चिरन्तन मान्यता है कि कर्मों का क्षय करके आत्मा परमात्मा बन जाती

---

1. खड़ी बोली का लोक-साहित्य--ले० डॉ० सत्या गुप्त--पृष्ठ १८७ तथा १९३ ।

है। ऐसी स्थिति में अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा के प्रभाव से जो अलौकिकता प्रदर्शित होती है वह कैसे कल्पित कही जा सकती है। तपःपूत दिगम्बर मुनियों के प्रभाव को प्रमाणित करने वाले आश्चर्यों को क्या हम कल्पित कह सकेंगे ? भले ही ये आज के मानव के लिए सन्देहास्पद हों लेकिन जैनाचार्यों के लिये तो ये निर्णीत ही थे तथा आज भी हैं। आत्मा की पावनता से यदि दुर्भिक्ष शान्त होता है एवं भयावह रोग शमित हो जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं है। मंत्रादि के प्रभाव से जो विद्वान परिचित हैं वे इस तथ्य को अस्वीकृत न करेंगे कि मंत्रों की सिद्धि से हिंसक पशु मृग की भाँति विनम्र हो जाते हैं, असाध्य रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं एवं विनाशक आक्रमण निष्फल हो जाते हैं। भक्तामर स्तोत्र की कथाएँ इस संदर्भ में उद्धृत की जा सकती हैं। आज के कतिपय विद्वान् कथाओं में उल्लिखित इस प्रकार के अलौकिक तत्वों को कथानक रूढ़ियों अथवा लोक-विश्वासों के रूप में स्वीकार करते हैं।

सामान्यतः जैन कथाओं में इन अलौकिक तत्वों को निम्नलिखित प्रयोजनार्थ समाविष्ट किया गया है।

(१) जैन-धर्म के प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए।
(२) कथावस्तु को आकर्षक बनाने के लिए।
(३) मंत्रादि के प्रभाव को बताने के लिए।
(४) महापुरुषों की गरिमा को चित्रित करने के लिए।
(५) प्रमुख पात्रों के चरित्रों के विकास के लिए।
(६) उत्सुकता समुत्पन्न करने के लिए।
(७) समुचित वातावरण की सृष्टि के लिए।
(८) परम्परा के निर्वाहार्थ।
(९) कथानक की अभिवृद्धि के लिए।
(१०) उद्देश्य की पूर्ति-हेतु।
(११) कथावस्तु में नए मोड़ लाने के लिए।
(१२) विशिष्ट अभिप्राय की पुष्टि हेतु आदि।

जैन कथाओं में विविध प्रकार के अलौकिक तत्वों को प्रदर्शित किया गया है। यहां ऐसे कतिपय तत्वों की सामान्य चर्चा की जा रही है—

(१) ब्रह्मचर्य व्रत के प्रभाव से हथियारों का पुष्पादिक के रूप में परिवर्तित हो जाना एवं उसी समय यक्षादि का प्रकट होकर राजादि के नौकरों को जहां का तहाँ कील देना तथा माया से चतुरंगिणी सेना को तैयार करना। **पुण्यास्रव-कथाकोष, सुदर्शन सेठ की कथा, पृष्ठ ११६।**

(२) नगर देवता के आसन का कंपित होना, नगर के बाहरी दरवाजों को कीलित करना एवं महासती के वाम चरण-स्पर्श से ही उनका खुलना। **नीली बाई की कथा-पुण्यास्रव कथाकोष पृष्ठ १९५**

(३) विद्या के प्रभाव से सुन्दर विमान का निर्माण और उसके माध्यम से आकाश-यात्रा करना। **नागकुमार कामदेव की कथा-पुण्यास्रव कथाकोष पृष्ठ २२८**

(४) चार घातिया कर्मों के नष्ट होने से भगवान के दश अतिशयों का समुत्पन्न होना। यथा चारसौ कोस पर्यन्त कहीं भी दुर्भिक्ष का न पड़ना, आकाश में निराधार गमन करना, भगवान के समवसरण में किसी भी जीव के द्वारा अन्य किसी जीव का घात न होना, भगवान का सदा निराहार रहना, चारों दिशाओं में भगवान के चार मुखों का दिखाई पड़ना, सर्व विद्येश्वरता. भगवान के परम औदारिक शरीर की छाया का न पड़ना आदि। **पुण्यास्रव कथाकोश पृष्ठ ३४८**

(५) चक्रवर्तित्व की विभूति का वर्णन अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ, चौरासी करोड़ प्यादे, बत्तीस हजार शरीर की रक्षा करने वाले यक्षाधीश, छयानवे हजार रानियाँ, तीन करोड़ गायें, नव निधि आदि कम आश्चर्यजनक नहीं है। इसी प्रकार काल निधि, महाकला निधि, पांडुकनिधि. माणवक निधि, नैसर्प निधि, सर्वरत्न निधि आदि के द्वारा क्रमशः इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होना, सोना, चाँदी, लोहा आदि खनिज पदार्थों की इच्छानुसार उपलब्धि होना, सुगंधित चावल, गेहूं आदि धान्यों का इच्छानुसार प्राप्त होना। कवच तलवार गदा आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों की आवश्यकतानुसार प्राप्ति होना आदि।

(६) दिगम्बर मुनि को अन्तराय रहित एवं विधिवत आहार देने से पंचाश्चर्यों का होना। एवं पुण्य-प्रभाव से करोड़ों रत्नों की सहसा वर्षा होना। **सुकेत नामक सेठ की कथा-पुण्यास्रव कथा कोष-पृष्ठ २५७**

(७) किंजल्क जाति के पक्षियों के निवास से महामारी, दुर्भिक्ष, रोग, अपमृत्यु आदि का न होना। **आराधना कथा कोष दूसरा भाग पृष्ठ ५५**

(८) विद्याबल से दुर्गन्ध से दूषित शरीर का सुगंध मय हो जाना। **आराधना कथा कोष भाग २ पृष्ठ ९५**

(९) मंत्रसिद्धि से आकाश गामिनी विद्या की उपलब्धि। **आराधना कथा कोष प्रथम भाग पृष्ठ ६५**

(१०) ऋद्धि के प्रभाव से बड़ा और छोटा रूप बनाना तथा तीन डगों में समस्त भू-मण्डल को नाप लेना आदि। **विष्णु कुमार मुनि की कथा आ. क. कोष प्रथम भाग पृष्ठ १२०**

(११) तपस्या में संलग्न दिगम्बर मुनि के सामने शिकारी कुत्तों का नत मस्तक हो जाना एवं विषाक्त और तीक्ष्ण बाणों का पुष्पवत् होना। **महाराज श्रेणिक की कथा, आ. क. कोष प्रथम भाग पृष्ठ १५७**

(१२) व्रत के प्रभाव से हिंसक जल-जीवों से भरे हुए जलाशय में फेंके गए मनुष्य की रक्षा होना तथा तालाब में उसके सम्मानार्थ देवों द्वारा भव्य सिंहासन का निर्माण। **यमपाल चांडाल की कथा, आ. कथा कोष प्रथम भाग पृष्ठ १८४**

(१३) पूज्य चारण ऋद्धि धारी मुनिराज को आहार देने से स्वर्ग के देवों द्वारा रत्नों की वर्षा का किया जाना, कल्पवृक्षों के सुन्दर और सुगन्धित फूलों की वर्षा होना, अनायास दुन्दुभि बाजों का बजना, मंद-सुगंध वायु का चलना एवं जय-जयकार का चारों दिशाओं में होना आदि। **दान करने वालों की कथा, आ. कथा कोष तृतीय भाग पृष्ठ २२३**

(१४) भक्तामर स्तोत्र का जाप करने से असाध्य रोगों का शमन होना, दावाग्नि का शान्त होना, क्रुद्ध पारावार का शमित होना, भयावह तूफान का विलीन होना हिंसक पशुओं का दयार्द्र होना, निर्धन का धनपति बनना, विपत्तियों का नष्ट होना, सर्प-दंश से बचना आदि। **भक्तामर स्तोत्र की कथाएं।**

(१५) व्रत-पूजादि से असाध्य कुष्ठ रोग का निर्मूल होना। **मैनासुन्दरी की कथा।**

(१६) मुनि दर्शनादि से जाति स्मरण हो जाना।

(१७) कल्पवृक्षों से मनोकामना की पूर्ति होना।

(१८) विभिन्न प्रकार के देवी देवताओं से असंभव कार्यों का संभाव्य रूप में प्रदर्शन।

(१९) जिनेन्द्र भगवान की माता की सेवामें देवियों का संलग्न रहना, इनके (जिनेन्द्र देव के) जन्मोत्सव पर स्वर्ग से इन्द्रों का आना, सुमेरु पर्वत पर क्षीर सागर के जल से इनका स्नान कराना, इस मंगलमय अवसर पर देवांगनाओं का नृत्य करना एवं गंधर्व देवों द्वारा प्रशस्ति-गान आदि। **आराधना कथा कोष भाग पृष्ठ ११६**

(२०) तीर्थंकर का जन्म होते ही भवनवासी देवों के घर शंख बजना, व्यंतरों के निवास-स्थान में भेरी का, ज्योतिषियों के यहाँ सिंहनाद का और कल्पवासियों के यहाँ घण्टा का शब्द होना। पुण्यास्रव कथा कोष पृष्ठ ३३५

(२१) जिनेन्द्र देव के जन्म-समय उनके सौन्दर्य को देखने के लिए इन्द्र का हजार नेत्र करना तथा पाण्डुक वन की ईशान दिशा में स्थित शुभ्र चन्द्राकार पाण्डुकशिला पर रत्नजड़ित सिंहासन पर विराजमान जिनेन्द्रदेव (बाल रूप में) का बारह योजन ऊँचे, आठ योजन चौड़े, एक योजन मुख वाले १००८ घड़ों से पाँचवें क्षीर सागर के जल से अभिषेक करना।

(२२) देवकृत चौदह अतिशयों का होना—(१) अर्द्धमागधी भाषा (२) सर्वजन मैत्री (३) समवशरण का समस्त ऋतुओं के फल-पुष्पादि से सुशोभित होना (४) रत्नमयी मही (५) विहारानुकूल मारुत (६) वायुकुमार देवों द्वारा धूलि को शान्त करना। (७) मेघकुमार जाति के देवों द्वारा समवशरण में गन्धोदक की वर्षा करना (८) भगवान के गमन करने में जहाँ उनका पैर पड़ता था, वहाँ उनके पैर के नीचे आगे पीछे दोनों जगह सात-सात कमलों की रचना देवों-द्वारा किया जाना। (९) समस्त पृथ्वी का हर्षित होना (१०) जन मोदन (मनुष्यों का प्रमुदित होना) (११) आकाश का सदा निर्मल होना (१२) देवों का भगवान के दर्शनार्थ परस्पर बुलाना (१३) धर्मचक्र का गमन काल में आगे-आगे चलना (१४) अष्ट मंगल द्रव्य।

जैन कथाओं में लोक विश्वास

जैन कथाओं में लोक विश्वासों का भी अनेक रूपों में चित्रण हुआ है। स्वप्नों के सम्बन्ध में इन कथाओं में अधिक चर्चा हुई है। कहा जाता है कि आगामी घटनाओं का संकेत स्वप्नों के माध्यम से सहज ही में मिल जाता है। ये स्वप्न ही होने वाले लाभ अलाभ का परिचय दे देते हैं। देवी-देवता अपने भक्तों की सफलता एवं असफलता का निर्देश स्वप्नों के द्वारा ही किया करते हैं। जैन विद्वान भलीभाँति जानते हैं कि जब कोई तीर्थंकर किसी भाग्यवती नारी के गर्भ में आते हैं तब उस पुण्यवती ललना को १६ स्वप्न आते हैं जिनके फलों को सुनकर वह स्वयं को भाग्यशालिनी मानती है और शीघ्र ही तीर्थंकर की जननी बनने की प्रतीक्षा करने लगती है। इन स्वप्नों की तालिका इस प्रकार है—(१) श्वेत हाथी (२) श्वेत बैल (३) सिंह (४) लक्ष्मी (५) मालायुग्म (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) मीन युग्म (९) कुम्भ युग्म (१०) निर्मल सरोवर (११) समुद्र (१२) सिंहासन (१३) विमान (१४) हर्म्य (१५) रत्नराशि (१६) अग्नि। इन स्वप्नों का फल यही है कि महापुण्यवान् विश्व-विश्रुत देवाधिदेव लोक-पूज्य श्री तीर्थंकर देव जन्म लेंगे। पुण्याश्रव कथा कोश—पृष्ठ ३३४

राजा चन्द्र गुप्त ने किसी रात्रि के पिछले पहर में निम्नस्थ स्वप्न देखे थे—

(१) सूर्य का अस्त होना (२) कल्प वृक्ष की शाखा का टूटना (३) आते हुए विमान का लौटना (४) बारह फणों का सर्प (५) चन्द्रमा में

छिद्र (६) काले हाथियों का युद्ध (७) खद्योत (८) सूखा सरोवर (६) धूम (१०) सिंहासन (११) सुवर्ण के पात्र में खीर खाता हुआ कुत्ता (१२) हाथी के सिर चढ़ा हुआ बंदर (१३) कूड़े में कमल (१४) मर्यादा का उल्लंघन करता हुआ समुद्र (१५) तरुण बैलों से जुता हुआ रथ (१६) और तरुण बैलों पर चढ़े हुए क्षत्रिय। एक मुनिराज ने प्रार्थना करने पर इन स्वप्नों का फल इस प्रकार बताया था:—

(१) राजन् ! पहले स्वप्न में जो सूर्य को अस्त होता देखा है, वह सूचित करता है कि सकल पदार्थों का प्रकाश करने वाला जो परमागम (केवल ज्ञान) है उसका अस्त होगा। (२) दूसरे स्वप्न में जो कल्प वृक्ष की डाली का टूटना देखा है, उसका फल यह है कि क्षत्रिय लोग न तो राज्य करेंगे और न दीक्षा ग्रहण करेंगे (३) आते हुए विमान के लौट जाने का फल यह है कि आज से यहाँ पर देव तथा चारण मुनियों का आगमन न होगा। (४) बारह फणों के सर्प से जानना चाहिये कि यहाँ बारह वर्षों का दुष्काल पड़ेगा (५) चन्द्रमंडल में छिद्र होने से समझना चाहिए कि जैनमत में संघ आदि का भेद हो जायगा। (६) काले हाथियों के युद्ध से जान पड़ता है कि अब से यहाँ पर यथेष्ट वर्षा न होगी। (७) खद्योत के देखने का फल यह होगा कि परमागम (द्वादशांग) का उपदेश कुछ ही दिनों तक रहेगा। (८) मध्य में सूखा सरोवर सूचित करता है कि आर्य खंड के मध्य देश में धर्म का विनाश होगा। (६) धूम का देखना बताता है कि अब दुर्जन और धूर्त अधिक होंगे। (१०) सिंहासन पर बंदर का बैठना स्पष्ट कह रहा है कि आगे नीच कुल वालों का राज्य होगा। (११) सोने के पात्र में कुत्ते का खीर खाना बतलाता है कि आगे राज सभाओं में कुलिंगियों की पूजा होगी (१२) हाथी पर बंदर का बैठना सूचित करता है कि राजकुमार नीच कुल वालों की सेवा करेंगे। (१३) कूड़े में कमल के देखने से विदित होता है कि राग-द्वेष सहित कुवेषी कुलिंगियों में तपादिक की क्रिया दीख पड़ेगी (१४) समुद्र मर्यादा का उल्लंघन होना जो देखा है वह सूचित करता है कि राजा षडांग भाग से अधिक कर लेंगे। (१५) तरुण बैलों सहित रथ दिखलाता है कि बालक तप करेंगे और वृद्धावस्था में उस तप में दोष लगावेंगे। (१६) तरुण बैलों पर चढ़े हुए क्षत्रिय प्रकट करते हैं कि क्षत्रिय लोग कुधर्म में लीन होंगे।

पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ २८०–८१

इसी प्रकार उज्जयिनी नगरी के निवासी धनपाल वैश्य की पत्नी प्रभावती ने रात्रि के अन्तिम भाग में स्वप्न में एक ऊँचा बैल, कल्पवृक्ष,

चन्द्रमा आदि देखे थे। इनका फल यह हुआ कि वह एक भाग्यशाली एवं पुण्यवान पुत्र की जननी बनी।

धन्यकुमार की कथा, पुण्याश्रव कथा कोश–पृष्ठ २८१

शुभाशुभ स्वप्नों की चर्चा के उपरान्त शकुनापशकुनों का भी कथाओं में उल्लेख हुआ है। पंडित विश्वदेव का कथन है कि प्रस्थान करते समय अथवा किसी नगरादि में प्रवेश करते समय यदि दिगम्बर मुनि, राजा, घोड़ा, मयूर, हाथी और बैल मिलें तो जानना चाहिये कि उस काम में सिद्धि होगी।

पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ २५६

जैन कथाओं के पात्र

कथाओं में पात्रों की अनिवार्यता असंदिग्ध है। ये पात्र ही हैं जो कथा को जन्म देते हैं और उनके ही सहारे कथावस्तु समुचित विस्तार प्राप्त करती है। पात्र ही कथानक में अलौकिकता लाते हैं और ये ही कथावस्तु में नये मोड़ लाकर पाठकों के सम्मुख जीवन की सम-विषम परिस्थितियों को प्रस्तुत करते हैं। सत्य तो यह है कि कथाओं के निर्माण के प्रमुख आधार पात्र ही हैं। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि पात्रों के अभाव में कथा का अस्तित्व भी असंभावित कहा जा सकता हैं। कथाकार अपने जीवन के कटु एवं मधुर अनुभव पात्रों के माध्यम से ही प्रकट करते हैं।

चरित्र-चित्रण की सार्थकता पात्रों पर ही अवलंबित है एवं वातावरण की सृष्टि को सफल बनाने वाले ये विविध पात्र ही तो हैं। पात्रों की विविधता कथावस्तु में वैविध्य लाती है और रोचकता में नवीनता समुत्पन्न करने का श्रेय इन पात्रों को ही है। कथाओं के ही लिए पात्रों की आवश्यकता नहीं होती है अपितु महाकाव्य, खंडकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य की विविध विधाओं के लिए भी पात्रों की सतत आवश्यकता अपरिहार्य है। कल्पना के माध्यम से जो कथाओं में पात्रों की विशिष्ट सृष्टि की जाती है अथवा उनमें (पात्रों में) जो वर्गगत विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है वह कथा की चारित्रिक विकास-गरिमा को मुखर करता है। पात्र-कथात्मक साहित्य का अन्यतम तत्व, एवं चरित्र वे व्यक्ति हैं जिनके द्वारा कथा की घटनाएँ घटती हैं

अथवा जो उन घटनाओं से प्रभावित होते हैं। इन्हीं व्यक्तियों के क्रिया-कलाप से कथानक और कथावस्तु का निर्माण होता है। अतः भले ही किसी कृति में घटनाओं की बहुलता और प्रधानता हो, पात्रों या चरित्रों का उसमें अभाव नहीं हो सकता। कथा की कल्पना में ही पात्रों की विद्यमानता निहित है।

कथा के पात्रों को किस प्रकार उपस्थित किया जाय, यह कलाकृति के रूप लेखक की रुचि तथा योग्यता और उसकी कृति के उद्देश्य पर निर्भर है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में पात्रों के प्रयोग, अर्थात चरित्र चित्रण के अपने-अपने ढंग और विधान होते हैं। सब मिलाकर पात्रों का चरित्र–चित्रण तीन प्रकार से हो सकता है (१) पात्रों के कार्यों के द्वारा (२) उनकी बातचीत के द्वारा तथा (३) लेखक के कथन और व्याख्या द्वारा।

कथा की घटनाएँ तो प्रायः पात्रों के स्वभाव और प्रकृति से ही प्रसूत होती हैं। उसके वातावरण या देश-काल का निर्माण चरित्रों को स्वाभाविकता और वास्तविकता प्रदान करने के लिए ही किया जाता है। कथनोपकथन घटनाओं से भी अधिक चरित्र को ही व्यंजित और प्रकाशित करता है तथा कथा के उद्देश्य की महत्ता भी चरित्र में ही निहित होती है।[1]

जैन कथाओं में जिस सार्वभौतिकता एवं विश्व कल्याण की विशद भावना को अपनाया गया है उसकी परिधि इतनी विशाल है कि संसार के समस्त प्राणियों का इसमें समावेश हो सकता है। जैन-धर्म जीवमात्र का हितकारी है। वह विश्व के प्रत्येक प्राणी को सुखी देखना चाहता है और यथा-शक्ति उसे सन्मार्ग का पथिक बनाना चाहता है।

इन कथाओं में देव, असुर, मानव, साधु-सन्यासी, दैत्य, दानव, राजा रानी, विद्याधर, धनिक, दीन, पशु पक्षी, कीट पतंगादि सब पात्र बनकर आए हैं। यदि देवता अपने विशिष्ट वैभव से युक्त हैं तो असुर भी अपनी आसुरी भावनाओं एवं कामनाओं से परिपूर्ण दिखाये गए हैं। तोता, मैना, काग, कोकिल, बक, हंस मयूर, गृद्ध आदि नभचर यदि इन कथाओं में अपनी वेदना की अभिव्यक्ति करते हैं तो गाय, बैल, घोड़ा, बन्दर, सिंह, मृग व्याघ्र, सूकर, श्रृगाल, गज, भेड़िया आदि भी मुनियों के उपदेशों को सुनकर प्रभावित होते हैं तथा अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करने लगते हैं। क्रूर वन्य पशु भी धर्मोपदेश के श्रवण से देव-योनि में मरकर उत्पन्न होते हैं और अपनी जीवन यात्रा को सफल बनाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्रों के साथ-साथ अरण्य-

---

1. हिन्दी साहित्य कोश भाग १ पृष्ठ ४८८

वासिनी कई जातियों के प्रमुख व्यक्ति भी इन कथाओं के पात्र बने हैं और उन्होंने साधना करके एक पुनीत आदर्श को समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है। मेंढक सा साधारण प्राणी भी इन कथाओं के माध्यम से शिष्ट जनों का प्रिय बनता है और अपनी भक्ति-भावना के सहारे मृत्यु का वरण कर स्वर्गवासी देव की अनुपम वैभव वशालिता को प्राप्त करता है। शृगाल रात्रि-भोजन का परित्याग कर शिथिल मानव-समाज के लिए एक चेतावनी देता है।

मरणासन्न सुग्रीव बैल पंच नमस्कार मन्त्र को सुनकर अपनी भावना को पुनीत बनाता है और वृषभ शरीर का त्याग कर राजा छत्रछाया की रानी श्रीदत्ता की गोद में वृषभध्वज नामक पुत्र के रूप में बाल सुलभ क्रीड़ाएँ करता है। (देखिए सुग्रीव बैल की कथा, पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ ७८)

साधारणत- कथाओं के पात्रों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है:—

(१) ऋषि-मुनि (२) राजा-रानी (३) सेठ-सेठानी (४) देव-दानव (५) विद्याधर (६) अरण्यवासी-आदिवासी (७) मानव (विभिन्न जातियों के नर-नारी) (८) पशु-पक्षी (९) कीट-पतंगादि (१०) देवी-देवता (११) वेश्या (१२) चोर डाकू (१३) विविध।

(पात्रों के सन्दर्भ में वेश्याओं, राजाओं एवं ऋषि मुनियों की विशेष चर्चा की गई है।)

प्रायः देखा जाता है कि कुपात्र भी जीवन की विषम यातनाओं को सहता हुआ कथा के अन्त में प्रायश्चित्त अथवा धर्म-साधना की पावन आग में अपने दुष्कृत्यों या दुर्भावनाओं को दग्ध करके अपने आप को सत्पात्र के रूप में प्रस्तुत करता है। जैन कथाओं की यह विशेषता है कि इनमें चित्रित दुष्ट पात्र भी शिष्ट बन जाते हैं। ये पात्र अपने कथनों के माध्यम से अपनी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करते हैं एवं जीवन की शुभाशुभ गतिविधियों को सहज रूप में समाज के सम्मुख अभिव्यंजित कर देते हैं।

जैन कथाओं में यथार्थवाद एवं आदर्शवाद

यथार्थवाद एवं आदर्शवाद दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यथार्थवाद ही आदर्शवाद की उपयोगिता को सिद्ध करता है और आदर्शवाद यथार्थवाद की प्रयोजनशीलता को प्रमाणित कर अपने अस्तित्व को सफल बनाता है।

यथार्थवाद के अभाव में आदर्शवाद निस्सार प्रतीत होता है और वह अपनी गरिमा खो बैठता है। इसी प्रकार आदर्शवाद के प्रति जन-मानस में तभी आकर्षण उत्पन्न होता है जब वह यथार्थवाद की कटुता से बेचैन हो उठता है। जो श्यामता और श्वेतता में पारस्परिक सम्बन्ध है वही इन दोनों में परिलक्षित होता है। इन दोनों को एक दूसरे का विरोधी कहना वस्तुतः उचित नहीं है।

"यथार्थवाद साहित्य की एक विशिष्ट चिन्तन-पद्धति है जिसके अनुसार कलाकारों को अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करना चाहिए। यह दृष्टिकोण आदर्शवाद का विरोधी माना जाता है पर वस्तुतः तो आदर्श उतना ही यथार्थ है, जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति। जीवन में अयथार्थ की कल्पना दुष्कर है। किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में यथार्थवाद जीवन की समग्र परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्य की हीनताओं तथा कुरूपताओं का चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवन के सुन्दर अंश को छोड़कर असुन्दर अंश का अंकन करना चाहता है। यह एक प्रकार से उसका पूर्वाग्रह है।।

यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशों के साहित्य में विभिन्न कालों में मिलती हैं। वस्तुतः यथार्थवाद सुधारक साहित्य का प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार वह अपने पाठक के मन में उस आक्रोश को जन्म देना चाहता है। जिसके बिना किसी भी सुधार परिवर्तन अथवा क्रान्ति की कल्पनानहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकाल से ही दिखाई देने लगती हैं।"[1]

आदर्शवाद में एक महान् उदात्त लक्ष्य की ओर संकेत रहता है। मनुष्य क्या है उसका विकृत जीवन कितना हेय है, एवं विषम परिस्थितियों ने उसे कितना पशुत्व की ओर ढकेला है आदि का विश्लेषण यथार्थवाद करता है। और आदर्शवाद उसके (मनुष्य के) विकास के लिए एक कर्त्तव्य का निर्देश करके समुत्थान की ओर उसे आकर्षित करता है। भौतिक मानव क्या है इसका चित्रण यथार्थवाद की तूलिका से होता है तथा उस मानव का चरम लक्ष्य क्या है, उसे अपने दलित अथवा विकृत जीवन की सतह से किस प्रकार उठना चाहिए-आदि का निर्देशन आदर्शवाद करता है।

"आदर्शवाद हिन्दी में आइडिअलिज्म (Idealism) के पर्याय रूप में प्रयुक्त किजा जाता है, किन्तु वास्तव में 'आइडिअलिज्म' का अर्थ आदर्शमात्र नहीं है। यह शब्द 'आइडिया' (Idea) से सम्बन्धित है, जिसका मूल अर्थ है विचार। इस कारण आदर्शवाद किसी सीमा तक विचारवाद भी है।

आदर्शवाद का प्रयोग अनेक रूपों में किया जाता है। दर्शन, राजनीति, साहित्य और कला के क्षेत्र में आदर्शवाद की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। आदर्शवाद एक प्रकार का दृष्टिकोण है, जिसकी सहायता से संसार का मूल्यांकन किया जाता है। वह एक विवेचन प्रणाली है। यथार्थ के जो मूलतत्व होते हैं, उनके अतिरिक्त भी कोई चेतन सत्ता है, विचारणा है, इसी आधार पर आदर्शवाद अपने चिन्तन में अग्रसर होता है। इस विचार-धारा में विषय वस्तु तथा भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मूल सत्य को अधिक महत्ता प्राप्त होती है। आदर्शवाद की दृष्टि बौद्धिक है किन्तु वह जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों को अधिकतर महत्व देता है और इस दृष्टि से वह आध्यात्मिक है।

---

1. हिन्दी साहित्य कोष भाग १ पृष्ठ ६६०

साहित्य में आदर्श शब्द का प्रयोग दर्शन अथवा राजनीति की भाँति किसी रूढ़िगत अर्थ में नहीं किया जाता। साहित्य का आदर्शवाद मानव-जीवन के आन्तरिक पक्ष पर जोर देता है। जीवन के दो पक्ष हैं आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक पक्ष में मानसिक सुख, प्रसन्नता, परितोष, आनन्द आजाते हैं। बाह्य पक्ष में ऐश्वर्य, वैभव तथा भौतिक उन्नति का स्थान है। आदर्शवादी साहित्यकार का विश्वास है कि मनुष्य जब तक आन्तरिक सुख प्राप्त नहीं करता, उसे वास्तविक आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। मानव की चेतना तब तक भटकती रहेगी, जब तक वह शाश्वत, चिरंतन सत्य अथवा आनन्द नहीं प्राप्त कर लेता। इस प्रकार आदर्शवाद मानव-जीवन की आन्तरिक व्याख्या करता है। उसकी उच्च संभावनाओं के प्रकाशन में तत्पर होता है। वह उन मानव-मूल्यों को ग्रहण करता है, जो कल्याण-कारी हैं, शुभ हैं, सर्जनात्मक हैं।

आदर्शवादी साहित्यकार भाव और कला की महत्तर ऊँचाइयों पर जाने का प्रयास करता है। अन्तर्मुखी होने के कारण कभी-कभी उसकी चेतना आध्यात्मिक, यहाँ तक कि रहस्यवादी हो जाती है।"[1]

जैन कथाओं में यथार्थवाद का चित्रण विषाक्त वातावरण की सृष्टि के लिए नहीं किया गया है और न मानवीय विकृतियों की कुत्सित अनुभूतियों की रोचकता के हेतु उभारा गया है। मानव को प्रबुद्ध करने के लिए ही यथार्थवाद का सहारा लेकर कथाकारों ने उसे एक संभाव्य आदर्शवाद की ओर बढ़ने के लिए सदैव प्रोत्साहित किया है। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा का पूर्ण विकास हमें जैन-कथाओं में प्राप्त होता है। नारकीय जीवन कितना वेदना-पूर्ण है, पशु-गति की कितनी भयावह विभीषिकाएँ हैं, धनिक वर्ग कितना निर्मम होकर निर्धनों को सताता है, कामी पुरुष किस प्रकार उचिता-नुचित के भेद को भूल जाता है, लोभी कितनी निर्ममता से दूसरों के धन का अपहरण करता है, नारी की काम-वासना जब उद्दीप्त होती है, तब वह सदाचार की सीमा का किस प्रकार उल्लंघन करती है, कामिनी व्यभिचारिणी बनकर किस रूप से वह पर पुरुष को आकर्षित करती है, आदि का चित्रण कथा-कारों ने बड़ी सजगता से किया है, लेकिन साथ ही साथ इस चित्रण को आदर्श-वाद की तूलिका से ऐसा मनोरम बना दिया है कि पाठक अथवा श्रोता कहानी को पढ़कर या सुनकर एक विशिष्ट प्रबोधन से स्वयं को जागरुक

---

1. हिन्दी साहित्य कोष प्रथम भाग पृष्ठ १०३

बना लेता है। मुनि-निन्दा से मानव संतप्त होकर दुःखी होता है लेकिन व्रतादि करके वह दुःख से मुक्ति पाता है तथा अपने आगामी जीवन को परिष्कृत भी बनाता है। इस प्रकार, के विविध मोड़ों का दिग्दर्शन कथा कारों ने आदर्शवाद की प्रतिष्ठा के लिए निरन्तर किया है। पापोदय से यदि शरीर कुष्ठ रोग से विकृत बनता है तो जिनेन्द्रदेव की भक्ति पूर्वक पूजा करने से तथा गंधोदक लगाने से इस प्रकार के कठिन रोग भी नष्ट हो जाते है। इस प्रकार रोग के कारणों का उल्लेख करते हुए आदर्श वादी इन जैन कथाकारों ने रोग की मुक्ति के साधनों की भी चर्चा की है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेख्य है कि एक ओर कथाकार ने मानव की निर्बलता को अंकित किया है तो दूसरी ओर इसान की कर्मण्यता एवं चारित्रिक पावनता को भी चित्रित कर मानव के दोनों रूपों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस प्रयास में मानवीय कमजोरियां परास्त होती हैं और चारित्रिक दृढ़ता अनेक संघर्षों के बीच सही बनती है। सुदर्शन सेठ की कथा में एक तूलिका से वेश्या की उदीप्त काम वासना को गहरे रंगों से रंगा गया है तो दूसरी तूलिका के सहारे शरीर की अपावनता को चित्रित कर प्रबोधन का सहारा लिया गया है तथा तीसरी तूलिका से सुदर्शन मुनि की चारित्रिक दृढ़ता को निखारा गया है। इस कथा के निम्नस्थ अंश विचारणीय हैं—

वेश्या का यह प्रलाप सुनकर परम निश्चल और धीर-वीर सुदर्शन बोले--हेमुग्धे (मूर्खिणी) यह अपवित्र शरीर दुःखों का घर वायु, पित्त, कफ इन त्रिदोषों से पीड़ित, कृमिकुल से परिपूर्ण और विनश्वर है। यह सांसारिक भोगोपभोगों के अनुभव न करने के लिए नहीं है, किन्तु परलोक सिद्धि की सहायता के लिए है। अतएव इसे तपस्या में ही लगाना चाहिए। ये सम्पूर्ण भोगोपभोग अविचारित रम्य और दुःखान्त हैं। इनसे प्राणी को कभी सन्तोष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मोक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र सुख नहीं है, और वह तपस्या के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। सो हे मूर्ख अब तू इस दुष्कृत्य से अपने आपको बचा और कुछ अपना कल्याण कर।

यह सुनकर देवदत्ता ने यह कह कर कि 'यह सब पीछे करना और पीछे ही उपदेश देना, अभी वह समय नहीं है। सुदर्शन मुनि को अपनी सुकोमल शय्या पर लिटा दिया। परन्तु मुनि ने इस समय सन्यास धारण कर लिया और प्रतिज्ञा करली कि यदि इस उपसर्ग का निवारण हो जायेगा तो आहारादि ग्रहण करूँगा अन्यथा सर्वथा त्याग है। परन्तु वेश्या ने

उसका पिंड न छोड़ा। उसने तीन दिन तक काम विकारों की नाना चेष्टाएँ कीं परन्तु जगज्जयी काम को जीतने वाले सुदर्शन मुनि मेरु के समान सर्वथा निश्चल रहे। आखिरकार वेश्या लाचार और निरुपाय होकर रात्रि को उन्हें श्मशान भूमि में लेजाकर कायोत्सर्ग पूर्वक स्थापन कर आई और अपने घर चली आई।

यहाँ सुदर्शन मुनि कठिन तपस्या के फल से केवल ज्ञान प्राप्त करके गंध कुटी रूप समवसरणादि की विभूति से युक्त हुए। उनके केवल ज्ञान के अतिशय को देखकर व्यन्तरी सम्यगृदृष्टी हो गई और पंडिता तथा देवदत्ता ने दीक्षा ग्रहण करली।" पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ १२१

यथार्थवाद एवं आदर्शवाद की इस चर्चा में यह भी उल्लेखनीय है कि कथाकारों ने पीड़ित मानव की सन्तुष्टि के लिए जिस आदर्शवाद की स्थापना की है वह केवल कल्पित नहीं है अपितु मानवीय साधना के भीतर ही है।

जैन कथाओं में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति और मानव का चिरंतन साहचर्य है। अपने जीवन के प्रथम प्रभात में इंसान ने प्रकृति के सुहावने दृश्य को देखा था एवं जीवन की संध्या में भी उसने प्रकृति से सान्त्वना प्राप्त की थी। यह प्रकृति ही तो मानव को कभी जननी के समान वात्सल्य देती है तो कभी प्रेयसी की भाँति उसे अनन्त प्यार प्रदान करती है। कभी शिक्षिका के सदृश यह प्रकृति विह्वल मानव को प्रबोधन देकर आश्वस्त करती है तो कभी अध्यात्मवाद की भावना को अपने क्षण भंगुर रूप के माध्यम से सुदृढ़ बनाती है।

साहित्यकार को सतत प्रेरणा देने वाली यह प्रकृति ही हैं। इसकी सुखद गोद में बैठकर काव्यकार चिरंतन काव्य की सर्जना करता है और चित्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर अपनी भावुक तूलिका प्राणवती बनाता है। प्रकृति की छाया में निर्मित साहित्य ही सत्यं, शिवं, सुन्दरं का प्रतीक बनता है।

हमारा प्राचीन समस्त साहित्य प्रकृति की रम्य रंगस्थली में ही रचा गया था। फलतः उसमें प्रकृति के विविध रूपों का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है। प्रकृति के अनेक उपकरण इतने रमणीय हैं कि वे उपमान के रूप में स्वीकृत हो चुके हैं। मृगों की छलांगें किसे विमोहित नहीं करती हैं? मयूरों का नृत्य सबको प्रमुदित कर देता है। मेघों की श्यामल घटाएँ बरबस भावुक मानस को सुखद स्मृतियों से भर देती है। इसी प्रकार कमलों से भरा

हुआ सरोवर दर्शक की आँखों को आनंदित कर देता है। सुरभित पुष्प किस स्नेही की लालसा को मुखरित नहीं करते ?

पलाश के फूलों की दहकती लालिमा किस विरहिणी को उद्वेलित नहीं करती ?

डॉक्टर शान्ति स्वरूप गुप्त के शब्दों में प्रकृति के साथ मानव का सम्बन्ध तभी से है जब से वह इस धरातल पर आया। शिशु के रूप में उसने प्रकृति जननी की ही उन्मुक्त क्रीड़ में नेत्रोन्मीलन किया, उसी की गोद में उसने स्वच्छन्द विहार किया और अन्त में उसी के वक्षस्थल पर वह चिर निद्रा में सोता रहा। महादेवी वर्मा ने प्रकृति और मानव के सम्बन्ध पर विचार करते हुए लिखा है--"दृश्य प्रकृति मानव जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रही है। प्रकृति के विविध कोमल परुष, सुन्दर, विरूप, व्यक्त, रहस्यमय रूपों के आकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी है। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मानव जाति का भाव-जगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति से विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।

यों तो धर्म, दर्शन, साहित्य और कला इन सभी में प्रकृति-चित्रण को स्थान मिला है, किन्तु काव्य में इसे सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य का रचयिता कवि साधारण मानव की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है और वह प्रकृति के विभिन्न दृश्यों से बहुत शीघ्र और अधिक अभिभूत होता है।"[1]

जैन कथाकारों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों एवं उपदेशों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रकृति के उपकरणों को विशेष रूप से अपनाया है। त्याग-वृत्ति की उपादेयता सिद्ध करने के लिए इन कथाकारों ने वृक्षों, मेघों सर-सरिताओं एवं पुष्पों के उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार परोपकार की भावना को जाग्रत करने के लिए इन कथाओं में गाय, पवन, आकाश, मेघ, कानन, पर्वत आदि की जीवन-गाथा का संकेत किया गया है। जीवन क्षण भंगुर है– इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए फूले हुए वृक्ष एवं शुष्क तरु को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कहीं-कहीं पर कथा की रोचकता का

---

1. साहित्यिक निबंध पृष्ठ ४८२

बढ़ाने के लिए प्रकृति का भी सुन्दर चित्रण इन कथाकारों ने बड़ी भावुकता से किया है। सामान्य रूप से प्रकृति का चित्रण इन कहानियों में निम्नस्थ रूपों में हुआ है—(१) आलम्बन रूप में (२) मानवीकरण के रूप में (३) पृष्ठभूमि के रूप में (४) उपदेशिका के रूप में (५) उद्दीपन रूप में (६) अलंकार प्रदर्शन के रूप में (७) प्रतीकात्मक रूप में (८) बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में (१०) दूतिका के रूप में। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं जो प्रकृति के विविध रूपों को प्रस्तुत करते हैं तथा यह भी बताते हैं कि भावुक कथाकार प्राकृतिक दृश्यों से किस प्रकार प्रभावित हुआ है, जैन कथाओं में पशु-पक्षियों का मानवीकरण एक विशिष्ट उद्देश्य का परिचायक है। यह मानवीकरण धार्मिक महत्व को प्रतिपादित करता है। यहाँ गाय, बैल, गज, सिंह, शृंगाल, मयूर, हंस, शुक, सारस, मैना आदि मुनियों के उपदेशों से प्रभावित होकर सन्यास धारण करते हैं, मांस-भक्षण का परित्याग करते हैं, रात में जल पीना छोड़ते हैं, विद्वेष को भूलते हैं एवं जाति-स्मरण से अपने दुष्कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करके स्वजीवन को सुधारने का पूर्ण प्रयास भी करते हैं।

बसन्त वर्णन—

"हरिवंश पुराण" पृष्ठ क्रमांक १७० से १७३ तक

कदाचित बसंत ऋतु का आगमन हुआ। बसंत के प्रभाव से चारों दिशाओं में एक विलक्षण शोभा नजर आने लगी। उस समय बनमाला नवीन पुष्प और पल्लवों की लालिमा से व्याप्त हो गई थी इसलिये उससे बसंत ऋतु अतिशय रमणीय जान पड़ती थी।

मनुष्यों के मन को हरण करने वाले आम के वृक्ष उस समय लाल-लाल नवीन पल्लवों से व्याप्त हो गये थे। उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो राजा सुमुख को वन देवी की प्रीति के लिये सूचना दे रहे हैं।

किंशुक (ढाक) के वृक्ष अग्नि की प्रचंड ज्वाला के समान चौतर्फा रक्त हो गये थे, उनसे ऐसा जान पड़ने लगा मानो विमुक्त हुये अनुरक्त स्त्री-पुरुषों की उपशांत विरह ज्वाला फिर से धधक उठी है।

उस समय अशोक वृक्ष नवीन युवा की तुलना कर रहा था। क्योंकि युवा के शरीर पर जिस प्रकार **रणन्नूपुरचारुस्त्रीकोमल क्रमताडितः पल्लवां-गरूहः** झनकार शब्द करती हुई पायलों से मनोहर स्त्री के अतिशय कोमल चरण के स्पर्श से पल्लवों के समान रोंगटे खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार अशोक वृक्ष भी झनकार शब्दों से युक्त पायजेबों से भूषित स्त्री के कोमल चरण का स्पर्श करते ही नवीन-नवीन पल्लवों से लदबदा गया था।

बकुल वृक्ष (मोलसिरी) स्त्रियों के अखंड मद्य के कुल्लों से फूल गया था। इसलिये उसे देख प्रमद जनों को परम आनंद होता था।

जो मनुष्य उस समय सुखी थे। अपनी अपनी वल्लभाओं से संयुक्त थे, उन्हें तो अपने ऊपर गुंजार शब्द करते हुवे भ्रमरों से कुरवक वृक्ष परम आनन्द देता था, किन्तु जो दुःखी विरही थे उन्हें दुःख कर। अपने अर्थ को कु-खोटे रोना चिल्लाना रूप रवक-शब्द कराने वाला चरितार्थ करता था।

उस समय चौतर्फा फूले हुये तिलक वृक्षों ने अपनी शोभा द्वारा पटल जाति के वृक्षों की सुगन्धी से व्याप्त वन लक्ष्मी रूपी वनिता को पुष्पवती बना दिया था।

जिस प्रकार हस्तियों के दमन करने के लिते केशर (गर्दन के बाल) से शोभित सिंह कूदते फिरते हैं, उसी प्रकार वसन्त ऋतु में खिले हुवे नाग वृक्षों को दबाने के लिये ही मानों सिंह केशर जाति के वृक्ष खिल उठे थे।

जिस प्रकार कोई पुरुष चिरकाल के वियोग से कृश अपनी वल्लभा को आलिंगन कर पुष्ट एवं पुष्पवती (रजोधर्मवती) कर देता है उसी प्रकार वसत ने चिरकाल से विमुख अतएव सूखी हुई अपनी मालती रूपी वल्लभा को अपने मिलाप से प्रफुल्लित और पुष्पों से व्याप्त कर दिया था।

उस समय अतिशय रक्त कंठ और अधरों की शोभा से मंडित एवं झूलने के अतिशय प्रेमी अनेक स्त्री पुरुष झूला पर बैठकर हिंडोल नामक राग में मनोहर गीत गाते थे।

कोई कोई स्त्रियों के प्रेमी मनुष्य वसंत ऋतु के अनुकूल भूषण वस्त्र पहन कर वगीचे और वनों में जाते और बड़ी प्रीति से मद्यपान करते थे।

वन में हरिण पहिले दूबघास का स्वयं आस्वादन करते और पीछे उसे हरिणी को देते। हरिणी भी उसका आस्वादन कर हिरण को देती सो ठीक है कि अपने प्रिया की सूंघी हुई भी वस्तु परम आनन्द देती है।

उस समय मदोन्मत्त हाथी सल्लकी वृक्ष के सुन्दर पल्लवों के खाने में अतिशय लालायित अपनी प्रेयसी हथिनी को अपने मुख से चुंबन करते और उन्हें चुंबन जन्य सुख में मस्त कर देते थे।

नूतन पुष्पों में स्थित मधु को पीते हुवे भ्रमर भ्रमरी इधर उधर शब्द करते हुवे फिरते थे एवं बड़ी लालसा से एक दूसरे का आघ्राण और चुंबन कर आनन्दित होते थे।

उस समय कोकिला इधर उधर कुहू कुहू मनोहर शब्द करती थी उससे

ऐसा जान पड़ता था मानो अपने समान सुरीले कंठों से भूषित रमणियों का गान सुनकर वे उनके जीतने की इच्छा से ही शब्द कर रही हैं।

इस प्रकार वसंत राजा के उदित होने पर राजा सुमुखी का भी विलासी मन वन विहार के लिये उत्सुक हुआ सो ठीक ही है जिस वसंत के प्रभाव से भ्रमर कोयल आदि क्षुद्र जन्तु भी मस्त हो नाना गान गाने लगते हैं तो मनुष्यों की तो बात ही क्या है ?

प्रथम ही उसने उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण पहिने पश्चात् वह भले प्रकार सजाये गये किसी अतिशय उन्नत हाथी पर सवार हो सज धज कर वन की ओर चल निकला। उस समय उसके मस्तक पर पूर्ण चन्द्रमा के समान अतिशय स्वच्छ छत्र फिरता था. जिससे सूर्य की प्रभा दब रही थी।

नाना प्रकार के जलों से पूर्ण समुद्र के समान अनेक राजाओं से व्याप्त, वंदीगणों से स्तुत राजा सुमुखी राजमन्दिर से निकल राजमार्ग पर अवतीर्ण हुवे। वसंत ऋतु के समान सदा से प्रजा के मन में विराजमान राजा सुमुख को देखने के लिये नगर की नारियों में बड़ा कोलाहल मच गया।

चारों ओर वर्धस्व, जय, नंद यही ध्वनि सुनी पड़ रही थी। हाथों को जोड़े हुवे अतिशय व्याकुल हो स्त्रियाँ अपने नेत्र रूपी अंजलियों से सुमुख के रूप का पान करने लगीं।

प्रकृति-अलंकार

स्त्रियों के मध्य में एक अतिशय मनोहर साक्षात् रतिके समान स्त्री बैठी थी। अचानक ही उस पर राजा की दृष्टि पड़ गई। उसका मुख चन्द्रमा के समान था। नेत्र कमल के समान थे। दोनों ओष्ठ विंबाफल सरीखे और कंठ शंख अनुरूप था। उसके स्तन चक्रवालों की उपमा को धारण करते थे। कटिभाग अतिशय कृश था। नाभि अत्यन्त गहरी थी। दोनों जघन सुघटित थीं। नितंब कुंदरूफल से तुलना करते थे और दोनों चरण, विशाल उरु, सुन्दर जंघा एवं पार्ष्णियों से अतिशय शोभायमान थे।

राजा सुमुख उसपर अति आसक्त हो गया और लालसा पूर्वक उस पर गिरी हुई अपनी चंचल दृष्टि को जरा भी न रोक सका।

उसके मन में सहसा इस बात की चिंता हुई कि मुग्ध हरिणी के समान नेत्रों से शोभित यह रमणी किसकी आज्ञाकारिणी स्त्री है। अतिशय सुन्दर यह बराबर अपने रूप रूपी पाश से मेरे मन को खींच रही है।

यदि इस जन्म में मैंने हृदय को आनन्द देने वाली इस रमणी के

साथ विलास न किया तो मेरा यह ऐश्वर्य व्यर्थ है। यह सुन्दर रूप और नवीन यौवन भी किसी काम का नहीं।

चाहे यह समस्त लोक परस्त्री सेवन करने के कारण एक ओर हो सर्वदा के लिये विरोधी हो जाय, परन्तु मेरा जो चित्त परस्त्री में आसक्त हो गया है, उसे मैं रोक नहीं सकता आदि।

'शरद ऋतु वर्णन' पृष्ठ क्रमांक १८६ से १८७ हरिवंश पुराण:—

कदाचित वर्षाकाल के व्यतीत हो जाने पर शरद ऋतु का आरम्भ हुआ। उस समय शरद ऋतु सर्वथा सुन्दर स्त्री की उपमा धारण करती थी। क्योंकि स्त्री के जैसा मुख होता है वह कमल रूपी मुख से शोभित थी। स्त्री जैसे अधर पल्लवों से मंडित रहती है यह भी बंधूक जाति के मनोहर पल्लव रूप अधरों से शोभित थी। स्त्री जैसे श्वेत चमरों से अलंकृत रहती है यह भी विकसित कांस के वृक्ष रूपी शुभ्र चमरों से युक्त थी। स्त्री जैसे वस्त्रों से वेष्टित रहती है यह भी निर्मल जल रूपी वस्त्रों से वेष्टित थी।

उस समय धूम्र के समान काली मेघ पंक्ति नजर न पड़ती थी। उससे ऐसा जान पड़ता था मानों श्वेत वर्ण गौओं के उन्नत शब्दों ने उसके शब्दों को प्रच्छन्न कर दिया था। इसलिए वह लज्जित हो छिप गई है।

वर्षाकाल में मेघमंडल से आवृत होने के कारण दिशाओं में सूर्य के पाद (किरण) नहीं फैल पाते थे, परन्तु इस समय मेघ का आवरण बिल्कुल नष्ट हो चुका था। इसलिये उस सूर्य ने अपने पैर (किरण) सब ओर पूर्ण रीति से फैला रक्खे थे।

उस समय मेघ रूपी नितंबों से झरते (गिरते) हुवे जल रूपी चित्र विचित्र वस्त्रों से मंडित, भंवर रूपी नाभि से रमणीय, मीन रूपी नेत्रों से मनोहर, फेन रूपी चूड़ाओं से अलंकृत, तरंग रूपी विशाल भुजाओं से भूषित, नदी रूपी रमणियाँ क्रीड़ा काल में भगवान के मन को भी हरण करती थीं।

लहर रूपी भ्रुकटियों से शोभित मीन के समान चंचल कटाक्षों से युक्त कामी पुरुषों के मनोहर अलापों के समान मत्त भौंरे और हंसों के शब्दों से रम्य विकसित कमलों की पराग रूपी अंगराग को धारण करने वाली सरसी रूपी स्त्रियां रतिकाल में भाग्यवान को अतिशय अनुरक्त करती थी।

शालि क्षेत्रों में सुगंधित शालि वृक्ष फलों के भार से नम्रीभूत हो गये और उन्हीं क्षेत्रों में कमल भी प्रफुल्लित हो गये। उनसे ऐसा प्रतीत होता था मानों सुगंध के अतिशय लोलुपी कमल और शालिफल शरीर से शरीर मिलाकर चिरकाल तक एक दूसरे की सुगंध सूंघना चाहते हैं।

कदंब वृक्ष वर्षाऋतु में पुष्पित होते हैं। इसलिये शरदऋतु के प्रारम्भ में जब कदंब धूलि से धूसरित विचारे भौंरों को कदंब पुष्पों का मधु न मिला तो वे मत्त हाथियों के मद की गंध देने वाले सपृच्छद वृक्षों से ही मन बहलाने लगे।

वर्षाकालीन संध्या का वर्णनः—

वर्षा काल की संध्या का समय था। मेघ मंडल ने अपने अंधकार-पूर्ण वातावरण में सूर्य के सम्पूर्ण प्रताप को ढक लिया था। उसने अपनी घनी और काली चादर से आसमान को आवृत कर लिया था। यह उसके जलदान का समय था। मेघों के हृदय की उदारता का स्रोत आज अनिवार्य गति से फूट पड़ा था। वे भीषण गति से भूमंडल को आर्द्र बनाने का संकल्प करने लगे। अरे यह क्या अपने प्रचुर दान की सीमा का आज वे उल्लंघन ही कर गए?

—महात्मा संजयंत सुहृद् तपस्वी नामक कथा से

रात्रि-वर्णन

उसी समय सूर्य पश्चिम समुद्र में जाकर डूब गया, मानो आकाश जंगल में चलते हुए थककर उसने स्नान करने के लिए समुद्र में डुबकी लगाई है। पश्चिम दिशा का उपभोग करने को जाते हुए सूर्य ने संध्या बादल के छल से उसके पश्चिम दिशा के वस्त्र खींच लिए हों—ऐसा मालूम होने लगा। पश्चिस दिशा पर छाई हुइ अरुण मेघों की परम्परा ऐसी जान पड़ने लगी मानो अस्तकाल में सूर्य को छोड़कर तेज जुदा रह गया है। नवीन रागी सूर्य, अब नवीन राग वाली पश्चिम दिशा का सेवन करने लगा।

जैन रामायण छटा सर्ग

जैन कथाओं की रचना प्रक्रिया

जैन कहानियों का रचना-विधान बड़ा ही सरल सरस एवं आकर्षक है। इनमें न शाब्दिक काठिन्य है और न भावों की दुर्बोधता। ये कथाएँ सामान्य जनता के लिए लिखी गई थीं अतः इन्हें इतना सुबोध बनाया गया था कि अशिक्षित जन-समुदाय भी इसे समझ सके और मनोरंजन के साथ-साथ जीवन की विषमता से भी अवगत हो सके। ये समस्त कहानियाँ एक विशिष्ट लक्ष्य को लेकर निर्मित हुई थीं और आचार-व्यवहार, प्रथा-परम्परा और जीवन-जगत् को अपने आकार में संभालती हुई आज भी जीवित हैं। समय-समय पर इनका स्वरूप परिवर्तित हुआ और स्वरों में बदलाव आया, लेकिन प्रबोधन की भावना अमिट रही।

कतिपय कथाओं को छोड़कर प्रायः समस्त कथाएँ ऐसी हैं जिनमें प्रस्तावना का अभाव है। साधारणतया कथा का प्रारम्भ किसी नगर अथवा ग्राम के नाम के उल्लेख से होता है तथा साथ ही साथ किसी विशिष्ट शासक, अथवा प्रधान पुरुष का भी संकेत किया जाता है। नृपति के नामोल्लेख के साथ उसकी रानी एवं राजकुमारों की भी प्रारम्भिक चर्चा करदी जाती है। बहु संख्यक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें साधारण व्यक्तियों की प्रधानता रहती है और कथाओं का प्रारंभ व्यक्ति विशेष की साधारण स्थिति के परिचय के साथ किया जाता है। कुछ कथाएँ ऐसी भी है जिनका प्रारम्भ किसी प्रधान घटना की पूर्व पीठिका से होता है। कथा के आरंभ में विशिष्ट पात्र के उल्लेख के

साथ उसकी पत्नी के नाम का भी संकेत कर दिया जाता है। कथा के प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में श्री जिनेन्द्र देव की स्तुति परक कुछ शब्द कह दिये जाते हैं। और अन्त में (कथा की समाप्ति में) सारांश के रूप में विशिष्ट लक्ष्य की भी चर्चा करदी जाती है जिससे कि पाठक अथवा श्रोता सहज ही में उस प्रयोजन को समझ सकें जिसके लिए पूरी कथा की सृष्टि की गई है। उदाहरण के रूप में यहाँ दो कथाओं का सारांश उद्धृत किया जा रहा है:—

(१)

पूजन का ऐसा महत्व है कि अत्यन्त मूर्ख, व्रत-रहित शूद्र की कन्याएँ भी भगवान् के मन्दिर की देहली पर केवल फूल चढ़ाने के कारण देव-गति को प्राप्त हो गईं। फिर यदि सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक अष्टद्रव्य से और भाव सहित भगवान् की पूजा करें तो इन्द्र-महेन्द्र की पदवी को क्यों न प्राप्त होवें ? अवश्य ही होवें। इसलिए हम सबको प्रतिदिन भक्ति भाव से जिन पूजा करनी चाहिये। (माली की लड़कियों की कथा, पूजाफल वर्णनाष्टक पुण्यास्रव कथाकोष पृ. ३)

(३)

देखिए ! मरण-काल में एक चोर भी बिना विचारे अथवा बिना महत्व जाने ही नमस्कार मंत्र के उच्चारण से देव-पद को प्राप्त होगया, यदि अन्य सदाचारी पुरुष शुद्ध मन से इस मंत्र का पाठ करें तो क्यों न स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त होवें ? अवश्य ही होवें। (दृढ़ सूर्य चोर की कथा–पुण्यास्रव कथाकोष, पृ० १०७)

मंगलाचरण एवं सारांश की प्रवृत्ति प्रायः समस्त पुरातन जैन कथाओं में दृष्टव्य है। लेकिन आज के कतिपय कहानीकारों ने प्राचीन जैन कथाओं की कथावस्तु के आधार पर कुछ कहानियाँ लिखी हैं। उन नव-निर्मित कहानियों में न मंगलाचरण का संकेत उपलब्ध है और न सारांश देने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसका कारण यही है कि आधुनिक कहानी का रचना-विधान पाश्चात्य कहनी-कला से अत्यधिक प्रभावित है। इस सन्दर्भ में डॉ० जगदीशचन्द्र जैन द्वारा लिखित दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ भी उल्लेख्य हैं।

कथाओं में रोचकता लाने के हेतु तथा इन्हें प्रभावोत्पादक बनाने के लिये कथाकारों ने सूक्तियों, सुभाषितों, दृष्टान्तों, एवं उपकथाओं का भी पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। इनके (सूक्तियों एवं सुभाषितों के) माध्यम से कथाओं में सन्निहित लक्ष्य की पूर्ति हो जाती है और साथ ही साथ जीवन के

एक ऐसे विशिष्ट तत्व से भी पाठक-श्रोता परिचित हो जाते हैं जो सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन में विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है। वेश्या के सम्बन्ध में कहा गया है कि—"वेश्या धन का अनुभव करती है, पुरुष का नहीं। धनहीन पुरुष कामदेव के समान हो तो भी वेश्या उसमे प्रीति नहीं लगाती है।" (अर्द्धदग्ध पुरुष और बकरे की कथा-पुण्यास्रव कथाकोष, पृ० ८५)।

इसी प्रकार गुरु की महिमा वे विषय में एक सूक्ति कही गई है—कि एक अक्षर, आधापद अथवा एक पद के देने वाले गुरु के उपकार को भी जो भूलता है वह पापी है, फिर धर्मोपदेश देने वाले गुरु के विषय में तो कहना ही क्या है? (पुण्यास्रव कथाकोष पृ० ९३)

कथा-वस्तु की सुन्दरता में अभिवृद्धि करने के लिए अथवा कहिए परम्परागत प्राप्त कथा-प्ररूढ़ियों की व्यापकता एवं मार्मिकता सिद्ध करने के लिए कहानियों में यत्र-तत्र कथानक-रूढ़ियों का भी प्रयोग किया गया है। इस संदर्भ में 'जैन-कथाओं में प्ररूढ़ियाँ' शीर्षक अध्याय द्रष्टव्य है। कथाओं की कथावस्तु को विस्तार देने के लिए तथा कथा-शिल्प को आकर्षक बनाने के हेतु कहीं-कहीं कथाकारों ने अलौकिक तत्वों को भी अधिक प्रश्रय दिया है। इस विषय में 'जैन कथाओं में अलौकिक तत्व' शीर्षक अध्याय अवलोकनीय है।

सामान्यतः कथाओं की शिल्प प्रक्रिया साधारण ही होती है। इसमें सीधा सादा कथानक होता है और इसका प्रारम्भ 'एक समय की बात है — अमुक नगर में एक सेठ रहता था,' 'एक गांव में एक माली रहता था,' "जम्बूद्वीप—पूर्व विदेह, आर्य खण्ड–अवन्ती देश में सुसीमा नामक एक नगरी है, 'कुंतल देश के तेरपुर नगर में नील और महा नील नाम के दो राजा थे— "मगध देश के राजगृह नगर में एक उपश्रेणिक राजा राज्य करता था"—आदि वाक्यों से होता है। इन सामान्य कथाओं में केवल एक ही कथानक रहता है और धार्मिक अथवा सामाजिक तथ्य को सरल रीति में प्रतिपादित कर दिया जाता है। लेकिन कई ऐसी भी कथाएँ हैं जिनमें प्रधान कथावस्तु के साथ कई अनेक उपकथाएँ गुम्फित रहती हैं जो प्याज के छिलकों के समान अथवा कहिए केले की छिलका वली (दल) की भांति एक के बाद एक प्रस्तुत की जाती हैं। ऐसी कथाओं की रचना-विधि सामान्य कहानियों की तुलना में कुछ जटिल सी प्रतीत होती है।

कतिपय कथाएँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जिनका प्रारंभ एक लघु प्रस्तावना से किया जाता है तथा प्रकृति वर्णन, राजवैभव-चित्रण, नागरिक सौन्दर्य चर्चा, नीति-सिद्धान्त-विवेचना, स्वर्ग-विलास-विभूति-दिग्दर्शन, चक्रवर्ती-वैभव-निरूपण, आदि के माध्यम से कथानक में कई मोड़ों की कल्पना को साकार बनाया जाता है। ऐसी कथाओं की रचना-विधि एक विशद प्रकार की कही जा सकती है। कुछ ऐसी भी कथाएँ हैं जो राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी द्वारा कही जाती है जिनमें कथा-श्रवण के फल का उल्लेख रहना है एवं कथा की गरिमा से संलग्न व्रतादि का विधान बताया जाता है।

एक प्रकार की विशिष्ट कथाएँ और भी हैं जिनकी कथावस्तु संक्षिप्त में प्रस्तुत की जाती है। इनका पूरा कथानक प्रश्नोतर में ही समाप्त हो जाता है। एक रोग-पीड़ित अथवा दुःखी पात्र किसी मुनिराज से पापोदय का कारण पूछता है और वे (मुनिराज) उसे पाप के उदय का हेतु बताते है। कथा पूरी हो जाती है। ऐसी कथाओं का शिल्प-विधान शरद-कालीन सरिता के प्रवाह के समान बड़ा ही सरस और सीधा होना है। बोल चाल की भाषा ही ऐसी कथाओं में प्रयुक्त होती है एव छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा कथा का प्रारंभ होता है और समाप्ति की जाती है—

दुर्गन्धा ने वंदना करके मुनि से पूछा—मैं किस पाप के उदय से ऐसी दुर्गन्ध युक्त हुई हूँ? मुनि ने कहा—सोरठ (गुजरात) देश में एक गिरिनगर है। उसका राजा भूपाल और रानी स्वरूपवती थी। उसी नगर का एक सेठ गंगदत्त और उसकी स्त्री सिंधुमती थी। एक समय जब वसन्त ऋतु अपनी निराली छटा और अपूर्व शोभा दिखा रहा था राजा ने क्रीड़ा करने और वसन्त की शोभा देखने का विचार किया। इत्यादि (पुण्यास्रव कथा कोप पृष्ठ २५)

ये कथाएँ गद्यात्मक, पद्यात्मक, एवं गद्यात्मक पद्यात्मक (मिश्रित) इस प्रकार तीन प्रकार की होती हैं। इन तीनों प्रकार की कथाओं का शिल्पविधान पृथक-पृथक होता है। गद्यात्मक कथाओं के मध्य में कथाकार समुचित एवं भावपूर्ण पद्य रखकर रचना-प्रक्रिया को विशेष आकर्षक बनादेते हैं। लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से भाषा की व्यंजना शक्ति अधिक बलवती बन जाती है। मानव-हृदय की गहन अनुभूतियों को चित्रित करने-वाली ये कथाएँ कभी दाम्पत्य-प्रेम को प्रदर्शित करती हैं तो कभी आध्यात्मिक भावना को चित्रित करती हैं। प्रेम, घृणा, हिंसा, प्रतिहिंसा, वात्सल्य, क्रोध,

मैत्री, विश्व-बन्धुत्व आदि मानवीय भावनाओं के प्रदर्शन में सफल इन जैन कथाओं की रचना-प्रक्रिया बड़ी विशद, भाव-पूर्ण, वैविध्य-परिपूर्ण, सहज एवं आकर्षक है। अनेक कहानियों की रचना-प्रक्रिया में अलंकारादि प्रयोग हुए है और फलतः उनकी भाषा में रमणीयता एवं मधुरिमा का अधिक समन्वय हो गया है। ऐसी रचना-प्रक्रिया से आबद्ध कथाओं का साहित्यिक महत्व विशेषतः उल्लेखनीय है। पुराणादि में गुम्फित कथाओं में अनेक ऐसी कहानियाँ हैं जो विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कही जा सकती हैं। उनकी शिल्प में समासान्त पदावली का बाहुल्य है, संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है एवं लम्बे-लम्बे वाक्य हैं, जिनसे मनोवैज्ञानिक तथ्यों को निरूपित किया गया है। इस प्रकार विभिन्न कथाओं की रचना-विधि में वैविध्य होता है, जो स्वाभाविक ही है।

वस्तुतः कथा-रचना-प्रक्रिया कथाकार की कला-सौन्दर्य-प्रियता की परिचायिका है। जिस प्रकार वास्तुकला में प्रवीण शिल्पकार अपने कौशल से नवीनता, आकर्षण, एवं विशिष्टता को साकार बनाता है उसी प्रकार कथाकार अपने नियोजन-कौशल से उपलब्ध कथावस्तु आदि से कहानी में एक ऐसी विलक्षणता को चित्रित करता है जिसे देखकर पाठक-समुदाय विमुग्ध हो जाता है। एक ही कथावस्तु को आधार बनाकर जब विभिन्न कथाकार अपनी-अपनी लेखनी से कहानी को भिन्न-भिन्न रूपों में अंकित करते हैं तभी तुलनात्मक दृष्टि से रचना-शिल्प की उत्कृष्टता का अध्ययन किया जा सकता है। प्रबुद्ध एवं कल्पना-शील चित्रकार की तूलिका की साधारण थिरकन भी असाधारण चित्र को जन्म देती है उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न कथाकार का सुव्यवस्थित नियोजन-शिल्प सामान्य कथानक को लोक-प्रिय कहानी के रूप में प्रस्तुत कर देता है।

जैन कथाओं की सार्वभौमिकता

जैन-कथा-साहित्य ने विश्व की कथाओं को विविध-रूपों में प्रभावित किया है। इन जैन कहानियों के कथानक विश्व की कथाओं में इस प्रकार गुम्फित हैं कि शोध-दृष्टि सुगमता से इनकी व्यापकता का परिज्ञान कर सकती है।

प्राचीन काल में जैन-साधु विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण कर जैन-धर्म का प्रचार करते थे एवं कथाओं के माध्यम से जैन सिद्धान्तों की गूढ़ता को सुबोध बनाकर लोक-मानस की अभिरुचि को जैन-धर्म के प्रति आकर्षित करते थे। फलतः ये कथाएँ लोक-प्रिय बनी और प्रान्तीय बोलियों में आवृत्त होकर लोक-संस्कृति की संरक्षिका कहलाई।

"बृहत्कल्प भाष्य में कहा गया है कि देश-देशान्तर भ्रमण करने से साधुओं की दर्शन-शुद्धि होती है तथा महान् आचार्य आदि की संगति से वे अपने आपको धर्म में अधिक स्थिर और विद्या-मंत्र आदि की प्राप्ति कर सकते हैं। धर्मोपदेश के लिए साधु को नाना देशों की भाषा में कुशल होना चाहिए, जिससे वे उन देशों के लोगों को उनकी भाषा में उपदेश दे सकें। जन पद-परीक्षा करते समय कहा गया है कि साधु इस बात की जानकारी प्राप्त करें कि कौन से देश में किस प्रकार से धान्य की उत्पत्ति होती है—कहां वर्षा से धान्य होते हैं? कहां नदी के पानी से होते हैं? इस प्रकार साधु को यह जानना आवश्यक है कि कौन से देश में वाणिज्य से आजीविका चलती है और कहां के लोग खेती पर जीवित रहते हैं तथा कहां लोग मांस-भक्षण

करते हैं और कहां पुष्प फल आदि का बहुतायत से उपयोग होता है। जैन-ग्रन्थों से पता चलता है कि देश-विदेशों में जैन-श्रमणों का बिहार क्रम-क्रम से बढ़ा। सम्प्रति उज्जायनी का बड़ा प्रभावशाली राजा हुआ। जैन-ग्रन्थों में सम्प्रति की बहुत महिमा गायी गई है। इसने (सम्प्रति ने) अपने योद्धाओं को शिक्षा देकर साधु के वेष में सीमान्त देशों में भेजा जिससे इन देशों में जैन-श्रमणों को शुद्ध आहार पान की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार राजा सम्प्रति ने आन्ध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र और कुडुक्क (कुर्ग) आदि जैसे अनार्य देशों को जैन-श्रमणों के सुख-पूर्वक बिहार करने योग्य बनाया। इसके अतिरिक्त सम्प्रति के समय से साढ़े पच्चीस देश आर्य देश माने गए, अर्थात इन देशों में जैन धर्म का प्रचार हुआ।"[1]

जैन कथाओं ने अपनी रचना- प्रक्रिया से विश्व के समस्त कथा साहित्य को विशेषतः प्रभावित किया है। किस प्रकार कथा की नियोजना होनी चाहिए तथा किन किन रूपों में कथाकारों को कथाओं में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति करके भाव-व्यजना को बलवती बनाना चाहिए एवं रस योजना कहानियों में किस प्रकार की जानी चाहिए आदि विषयों का जिस गंभीरता से जैन कथाओं में निरूपण किया गया है उसका अनुशीलन कर संसार के कहानीकारों ने जो विशिष्ट उपाधियां प्राप्त की हैं उनका प्रमुख साधन जैन-कथा साहित्य ही है। जैन-कथा प्ररूढ़ियों से विश्व-कथा साहित्य पर्याप्त रूप रूप से अनुप्राणित हुआ है। जैन-कथाओं की भाव-भाषा-शैली से प्रभावित विश्व का कहानी साहित्य अपने प्रारम्भिक उत्थान से ही है। जैन-पुराणों के मूल प्रतिपाद्य विषय ६३ महापुरुषों के चरित्र हैं। इनमें सन्निहित कथाएँ यूरोपियनों के मत से विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं।

जैन कथाओं को आधार बनाकर अनेक कवियों एवं नाटककारों ने कई महाकाव्य, खंड काव्य एवं नाटक लिखे हैं। सूफी कवि जायसी का प्रसिद्ध महाकाव्य 'पद्मावत' की रचना प्राकृत जैन-कथा 'रयण सेहरी नरवइ कहा' पर आधारित है। डॉ० रामसिंह तोमर के मतानुसार जैन साहित्य से इस प्रकार अनेक काव्यमय आख्यायिकाओं के रूप हमारे प्रारम्भिक हिन्दी कवियों को मिले और प्रेम मार्गी कवियो ने उनपर काव्य लिखकर अच्छा मार्ग प्रस्तुत किया (दृष्टव्य जैन-साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन- प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४६७)

1. जैन-ग्रन्थों में भौगोलिक सामग्री और भारत वर्ष में जैन-धर्म का प्रसार ले० डॉ० जगदीश चन्द्र जैन (प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २५१)

जैन साहित्य की उपदेश-परक प्रवृत्ति ने (जो जैन-कथाओं में अधिक मिलती है) भारतीय सन्त साहित्य को अधिक प्रभावित किया है:–"दूसरी प्रधान धारा जैन साहित्य में उपदेश की है, यह अधिक प्राचीन है। यह उपदेशात्मकता हमें भारतीय साहित्य में सर्वत्र मिल सकती है, लेकिन जैन साहित्य की उपदेशात्मकता गृहस्थ जीवन के अधिक निकट आ गई है। भाषा और उसकी सरलता इसके प्रधान कारण हैं। वर्तमान साधु वर्ग पर जैन साधुओं और सन्यासियों का अधिक प्रभाव प्रतीत होता है। जो हो हिन्दी साहित्य में इस उपदेश (रहस्यवाद मिश्रित) परम्परा के आदि प्रवर्त्तक कबीरदास हैं और उनकी शैली, शब्दावली का पूर्ववर्ती रूप जैन रचनाओं में हमें प्राप्त होता है। सिद्धों का भी उनपर पर्याप्त प्रभाव है। यह कहना अनुचित और असंगत न होगा कि हिन्दी की इस काव्य धारा पर भी जैन साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।"

कुन्दकुन्दाचार्य, योगीन्दु देवसेन और मुनि रामसिंह इत्यादि कवियों की उपदेश प्रधान शैली और सन्त साहित्य की शैली में बहुत समानता है।"

(जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, ले० डॉ० रामसिंह तोमर प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४६७)

जैन कथा साहित्य की लोक-प्रियता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व जैन कथाकारों ने जिन कहानियों का प्रणयन किया वे आज भी लोक कथाओं के रूप में भारत के सभी प्रदेशों में प्रचलित हैं। जैन आगमों में राजा श्रेणिक के पुत्र अभय कुमार के बुद्धिचातुर्य की जो कथा है वह अपने उसी रूप में हरियाणा के लोक-साहित्य में अढ़ाई द्वेत की कथा के नाम से प्रसिद्ध है और दक्षिण के जैमिनी स्टूडियो ने इस कथा के आधार पर 'मंगला' चित्रपट का निर्माण किया है। इसी प्रकार शेर और खरगोश की कहानी जिसमें खरगोश शेर को कुए में अन्य शेर की परछाईं दिखाकर ठगता है। 'भिखारी का सपना' जिसमें स्वप्न में हवाई किला बनाता हुआ भिखारी अपनी एकमात्र सम्पत्ति दूध की हांडी को फोड़ डालता है। 'नीले सियार की कहानी' जिसमें सियार अपने को नीला रंग में रंगकर जंगल का राजा बन बैठता है। बन्दर और बया की कहानी, जिसमें बन्दर बया के उपदेशों को अनसुना करके उसके घोंसले को नष्ट कर डालता है आदि अनेक कहानियाँ आज भी सर्व साधारण में प्रचलित हैं। ये ही कहानियाँ जैन साहित्य के अतिरिक्त हमें बौद्धजातकों, पंचतंत्र, हितोपदेश, कथा सरित्सागर

आदि जैनेतर कथा साहित्य में भी प्राप्त होती हैं। इसका अभिप्राय यही है कि जैन कथा साहित्य सार्वभौतिकता की व्यापक भावभूमि पर खड़ा हुआ है। हम उसे किसी समुदाय या धर्म विशेष की संकुचित सीमाओं में नही बांध सकते। और न उसका क्षेत्र किसी एक देश या युग तक ही सीमित है। उसका विश्व व्यापी महत्व है और युग विशेष से ऊपर उठकर वह विश्व साहित्य की चिरंतन और शाश्वत धरोहर है। समग्र मानव जाति की वह अमूल्य सम्पत्ति है और यह प्रसन्नता की बात है कि इसी सार्वजनीन और सार्वभौमिक रूप में जैन कथा साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति का उपयोग भी हुआ है। जैन कथा साहित्य न केवल भारतीय कथा साहित्य का जनक रहा है अपितु संपूर्ण विश्व कथा साहित्य को उसने प्रेरणा दी है। भारत की सीमाओं को लांघकर जैन कथाऐं अरब, चीन, लंका, योरोप आदि देश-देशान्तरों में पहुंची हैं और अपने मूल स्थान की भांति वहां भी लोक प्रिय हुई हैं। योरोप में प्रचलित अनेक कथाएं जैन कथाओं से अद्भुत साम्य रखती है। उदाहरण के लिये नायाधम्म कहा, चावल के पांच दाने की कथा कुछ बदले हुए रूप में ईसाइयों के धर्मग्रन्थ 'वाइबिल' में प्राप्त होती है। चारुदत्त की कथा का कुछ अंश जहाँ वह बकरे की खाल में बन्द होकर रत्नद्वीप पर जाता है सिन्धबाद जहाजी की कहानी से पूर्णतः मिलता जुलता है। प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान ट्वानी ने कथाकोष की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि विश्व कथाओं का मूल स्त्रोत जैनों का कथा साहित्य ही है; क्योंकि जैन कथाकोषों की कहानियों और योरोप की कहानियों में पर्याप्त साम्यता है तथा यह भी निश्चित है कि ये सब की सब कहानियाँ जैन कथा साहित्य से उधार ली गई हैं। ट्वानी ने अनेक उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया है।

प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान प्रोफेसर जैकोबी ने अपनी 'परिशिष्ट पर्व' की भूमिका में एक स्त्री और उसके प्रेमी की एक जैनकथा को उद्धृत किया है। आश्चर्य की बात है कि यही कहानी ज्यों की त्यों चीन के लोक साहित्य में प्रचलित है और फ्रान्स में भी कुछ रूपान्तर के साथ लोक-प्रिय है। 'अलिफ लैला' (आरबोपन्यास) की कहानियों का मूल आधार भी जैन कथा साहित्य है, यह बात कुछ आश्चर्य जनक सी प्रतीत होती हुई भी सत्य है। 'अलिफ लैला' में एक वजीर की लड़की बादशाह की मलिका बनकर प्रति रात्रि एक कहानी सुनाकर अपने प्राण बचाती है। इसी प्रकार आवश्यक चूर्णि की कहानी 'चतुराई का मूल्य' है जिसकी नायिका कनकमंजरी प्रति रात्रि एक कहानी सुनाने का लोभ देकर अपने पति को, जो कि राजा है ६ मास तक

अपने पास रोके रहती है। 'नायाधम्म कहा की 'प्रलोभनों को जीतो' कहानी का कथानक 'अलिफ लैला' की कहानियों से बहुत साम्य रखता है।

[जैन कथा साहित्य-लेखक प्रोफेसर फूलचन्द जैन सारंग एम. ए. साहित्य रत्न, श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ से साभार।]

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने जैन-कथा-साहित्य से चुनकर 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ' नाम से एक कथा-संग्रह प्रस्तुत किया है। इस संग्रह में संग्रहीत कथाएँ तीन रूपों में (लौकिक कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ एवं धार्मिक कहानियाँ) विभाजित की गई हैं।

लौकिक कथाओं के सम्बन्ध में डॉ० जैन ने लिखा है लौकिक कथाओं में उन लोक-प्रचलित कथाओं का संग्रह है जो भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हैं, और जिनका किसी सम्प्रदाय या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विभाग में दो कहानियाँ नाया धम्म कहा (ज्ञातृ धर्म कथा) में से ली गई हैं। इन कहानियों में चावल के पाँच दाने (नाया धम्म ७) कहानी कुछ रूपान्तर के साथ मूल सर्वास्तिवाद के विनय वस्तु (पृ० ६२) तथा बाइबिल (सैण्ट मैथ्यू की सुवार्ता २५; सेण्ट ल्यूक की सुवार्ता १६) में भी आती है। माकंदी पुत्रों की कहानी (नाया धम्म ६) काल्पनिक प्रतीत होने पर भी हृदय-ग्राही तथा शिक्षाप्रद है। इस प्रकार के लौकिक आख्यानों द्वारा भगवान् महावीर संयम की कठोरता और अनासक्ति भाव का उपदेश देते थे। यह कथा कुछ रूपान्तर के साथ वलाहस्स जातक (सं० १९६) तथा दिव्यावदान में उपलब्ध होती है। इस विभाग की कई कहानियाँ पहेली साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्व की है। पंडित कौन? (आवश्यक चूर्णि, पृ० ५२२-२६) चतुर रोहक (वही पृ० ५४४-४६) राजा का न्याय (वही पृ० ५५५-५६), चतुराई का मूल्य (वही पृ० ५७-६०) नामक कहानियाँ अत्यन्त मनोरंजक और कल्पना शक्ति की परिचायक हैं। इनमें से अनेक कहानियाँ आजकल वीरबल और अकबर की कहानियों के नाम से प्रचलित हैं। चतुर रोहक का कुछ भाग महा उम्मग्ग-जातक में पाया जाता है। पंडित कौन है? का कुछ भाग रूपान्तर के साथ शुक सप्तति (२८) में आता है। दो मित्रों की कहानी (आवश्यक चूर्णि, पृ० ५५१) कथासरित्सागर (पृ० ३१५) शुक सप्तति (३९) तथा कुछ रूपान्तर के साथ कूट वाणिज जातक और पंच-तंत्र में पायी जाती है।"[1]

---

1. दो हजार वर्ष पुरानी कहानियां-प्रास्ताविक से साभार।

प्राचीन जैन कथा-साहित्य में सर्वप्रथम गुम्फित बिना बिचारे करने का फल, घण्टी वाला गीदड़, कपट का फल, बन्दर और बया, लालची गीदड़, राजा का न्याय, गीदड़ की चतुराई, दो पायली सत्तू, घोड़ों का सईस, कृतघ्न कौए, वृद्ध जनों का मूल्य, वैद्यराज या यमराज, विद्या का घड़ा, रानी मृगावती, राजा शालिवाहन का मंत्री, बिक्रमराज मूलदेव गंगा की उत्पत्ति, कपिल मुनि, शम्ब की कील, यक्ष या लकड़ी का ठूँठ, चाण्डाल पुत्रों की कहानी, रोहिणेय चोर, जिनदत्त का कौशल, कल्पक की चतुराई आदि कहानियाँ, बघेलखंड, बुन्देलखंड, छत्तीसगढ़, राजस्थान, मालवा, नीमाड़, रुहेलखण्ड, बंगाल, काश्मीर, गढ़वाल, पंजाब, भोजपुर, कर्नाटक, दक्षिण भारत, गुजरात आदि भू-भागों में कुछ रूपान्तर के साथ विभिन्न शीर्षकों से प्रचलित हैं। इन में से कतिपय कथाएँ तो पाश्चात्य देशों में भी साधारण परिवर्तन के साथ लोक जीवन में समा गई हैं।

जैन-कथा-साहित्य की यह सार्वभौमिकता प्रमाणित कर रही है कि विश्व की कहानियाँ जैन कथाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं।

जैन कथाओं में नामों की संयोजना

नामकरण भी हमारी संस्कृति एवं सभ्यता का द्योतक है । विश्व में कोई भी ऐसा चेतन तथा अचेतन नहीं है जिसका नाम न हो । नामों के माध्यम से ही हमें ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं जिनसे पदार्थों एवं प्राणियों के स्वभावादि का परिज्ञान होता है । संस्कारों में नामकरण को अभिहित करके हमारे आचार्यों ने नामों की उपयोगिता को भी समझा है । विभिन्न प्रकारों के नाम विश्व के प्रांगण में पल्लवित एवं पुष्पित भिन्न-भिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के क्रमिक विकास से सम्बद्ध इतिहास की उभरी हुई रेखाओं को प्रस्तुत करते हैं । रामदास, सियाशरण कृष्णशंकर, कृष्णबिहारी, श्यामबिहारी, राधारमण, गंगादास, यमुनादास, शिवदास, शिवसहाय, जिनदास, जिनदत्त, ऋषभदास, कालीचरण, भैरवनाथ, नर्मदाप्रसाद, धर्मदास, भूतनाथ, पार्वती, अनुसुइया, सीता, राधा, चम्पा, चमेली, देवीदास, सागरमल, प्रतापसिंह, नन्ददास, बुद्धि-प्रकाश, गोपालदास, गोपालशरणसिंह आदि नाम एक ओर मानव की विशिष्ट सम्प्रदाय-प्रियता को बताते हैं और दूसरी ओर उसकी भक्ति-परम्परा को भी अभिव्यञ्जित करते हैं । ग्रामीण नाम यदि हमारी ग्राम्य-संस्कृति को जीवित रख रहे हैं तो सुसंस्कृत नामावली एक उदात्त सांस्कृतिक चेतना की अभिवृद्धि को भी मुखरित करती है ।

गुण, स्वभाव, जाति, धार्मिक विश्वास, देश-परम्परा, शारीरिक आकार-प्रकार, कुल-गोत्रादि, भक्ति पद्धति, पारिवारिक वातावरण, कुल-देवी-

देवता, सम्प्रदाय, गुरु-संरक्षण, वरदान, मान्यता आदि का नामकरण में विशेष महत्व माना गया है।

कतिपय नाम अभिधा मूलक होते हैं और कुछ नाम लाक्षणिक भी कहे गये हैं। लेकिन लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक नाम भी शनैः शनैः अभिधा मूलक हो जाते हैं।

न केवल जैन पुराणों में ही वरन समस्त वाङ्मय में नामों की ऐसी राशि उपलब्ध होती है, जिन्हें शब्द शक्तियों के आधार पर अनेकधा वर्गीकृत किया जा सकता है। शब्द-शक्तियों के आधार पर तो नामों को वर्गीकृत किया ही जा सकता है। उनके द्वारा झंकृत अर्थों के माध्यम से भी विभाजन पूर्ण रूपेण संभाव्य है। शब्द-शक्तियों के सन्दर्भ में सर्वप्रथम समूची नाम राशि को द्विधा विभक्त कर सकते हैं :—

व्यासात्मक एवं समासात्मक। इस उभय विधि नाम-राशि को पुनः अभिधा शक्ति के आधार पर निम्नलिखित रूप से चतुर्धा विभाजित किया जा सकता है :—

(१) रूढ़
(२) यौगिक
(३) योगरूढ़
(४) यौगिक रूढ़।

(१) जिन नामों की व्युत्पत्ति न हो सके उन्हें रूढ़ (शब्द) कहते हैं जैसे—डिम्थ (काठ का हाथी) इस नाम की कोई व्युत्पत्ति नहीं है।

(२) अवयव शक्ति से अर्थ-बोधक नाम यौगिक कहे जाते हैं। जैसे—पाचक (रसोइया) तथा पाठक जो पढ़ाता हो उसे पाठक कहते हैं। यहाँ पढ् क्रिया से यह नाम निर्मित है।

(३) समुदाय और अवयव दोनों की शक्ति से जो अर्थबोधक नाम होते हैं, वे योगरूढ़ कहलाते हैं। जैसे—पंकज। इस नाम की व्युत्पत्ति की जाय तो पंकात् जायते इति पंकजः। लेकिन यह नाम केवल कमल के लिए ही रूढ़ हुआ है। इस प्रकार इस नाम का बोध समुदाय एवं अवयव दोनों के माध्यम से होता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि जहाँ अवयव शक्ति, समूह-शक्ति से नियन्त्रित होकर अभीष्ट अर्थ प्रदान करे, उसे 'योग-रूढ़' नाम कहते हैं।

(४) जिनकी समूह शक्ति निरपेक्ष हो वे यौगिक रूढ़ नाम कहलाते हैं। जैसे–अश्वगन्धा (एक जड़ी का नाम)। यदि यहाँ हम इस नाम की अवयव शक्ति द्वारा व्युत्पत्ति करें तो अश्वस्य गन्ध इव गन्धो यस्या—घोड़े की गन्ध के समान है गन्ध जिसकी। लेकिन यह व्युत्पत्ति यहाँ निरपेक्ष है क्योंकि असगन्ध नामक जड़ी घोड़े की गन्ध के समान गन्ध की अपेक्षा नहीं रखती। इसी प्रकार समूह-शक्ति से भी यहाँ निरपेक्षता है। यदि इन चार प्रकार के नामों के भेद-प्रभेदों पर विचार किया जाय तो अनेक भेद हो सकते हैं। दृष्टव्य—जयदेव विरचित, चन्द्रालोक का प्रथम मयूख।

जैन कथाओं में नामों की सार्थकता उल्लेख्य है। प्रायः गुणों के अनुरूप ही नाम रखे गये हैं। जैसे–धनदत्त (दान में धन देने वाला), जयकुमार (विजय प्राप्त कर्त्ता), सुलोचना (सुन्दर नेत्र वाली), दुर्गन्धा (जिसके शरीर मे दुर्गन्ध आती हो) इत्यादि। पुरातत्व की दृष्टि से भी इन जैन नामों का विशेष महत्व है। इनके माध्यम से हमें प्राचीन जैन-संस्कृति की एक प्रशस्त झलक दिखाई देती है। इन नामों के विशद अनुशीलन से हमें यह ज्ञात होता हैं कि जातिगत नाम शनैः शनैः व्यक्ति वाचक बन गये एवं स्थानों के नामों ने व्यक्तिवाचक नामों को भी प्रभावित किया। इस प्रकार व्यवसाय, जाति, देश आदि के अनुरूप भी हजारों नाम–इन जैन कथाओं में अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं।

इन जैन नामों ने अपनी रमणीयता, कोमलता, गुणानुरूपता एवं लालित्य से लोक-प्रियता तो प्राप्त की ही है, साथ ही पूर्ववर्ती तथा परवर्ती नाम परम्परा को विविध रूपों में प्रभावित भी किया है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ जैन नामों का उल्लेख किया जाता है। ये पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के परिचायक हैं एवं सार्थक कहे जा सकते हैं। रूढ़ नाम तो कम हैं, लेकिन यौगिक, योगरूढ़ तथा यौगिकरूढ़ नामों की पर्याप्त संख्या मिलती है।

जैन आचार्यों के नाम

१. गौतम गणधर २. भद्रबाहु ३. धरसेन ४. कुन्दकुन्द ५. उमास्वाति ६. समन्तभद्र ७. सिद्धसेन ८ देवनन्दि ९. अकलंक १०. विद्यानन्दि ११. जिनसेन १२ प्रभाचन्द्र १३. वादिराज १४. जिनभद्रगणि १५. हरिभद्र १६. हेमचन्द्र १७. यशोविजय।

ऋषि, मुनियों एवं साध्वियों की नामावली

ऋषि-मुनियों के नाम	साध्वियों के नाम
१. गुणसागर	१. पृथिवीमती
२. सुगुप्ति	२. जिनमती

३. यमधर
४. अरविन्द
५. समाधिगुप्त
६. सुदर्शन
७. बालि
८. सुधर्माचार्य
९. सूर्यमित्र
१०. यशोभद्र
११. सुकुमाल
१२. प्रीतंकर

३. राजीमती
४. चन्दनबाला
५. वसुमती
६. मधुमती
७. स्वस्तिमती
८. धर्ममती
९. कीर्तिमती
१०. त्यागप्रभा
११. धर्मप्रभा
१२. गुणवती

राजाओं के नाम

१. श्रेणिक
२. धर्मघोष
३. मणिमाली
४. जितशत्रु
५. विश्वसेन
६. अन्धकवृष्टि
७. अकम्पन
८. विमलवाहन
९. अरविन्द
१०. श्रीकान्त
११. धनपाल
१२. धात्रिवाहन

रानियों के नाम

१. चेलिनी
२. लक्ष्मीमती
३. गुणमाला
४. धनदत्ता
५. सुप्रभा
६. सुलोचना
७. विमलमती
८. लक्ष्मीवती
९. मनोहरी
१०. धनमती
११. वसुन्धरा
१२. विदेही

मन्त्रियों के नाम

१. विश्वभूति
२. अरविंद
३. नयंधर
४. जयंधर
५. बन्धुदत्त
६. वासव
७. अग्निमित्र
८. गुणधर

९. यशोधर
१०. श्रीधर
११. दुर्मति
१२. सोमदत्त

सेठों (धनपतियों) के नाम

१. धनदत्त २. वसुमित्र ३. समुद्रदत्त ४. वृषभदास ५. जिनदत्त ६. धर्मदत्त ८. धनपति ९. भविष्यदत्त १०. देविल ११. श्रीकुमार १२. धनपाल।

सेठानियों (धनपत्नियों) के नाम

१. जिनमती २. सागरसेना ३. मनोरमा ४. वसुकान्ता ५. नागश्री ६. यशोभद्रा ७. कनकप्रभा ८. रतिकान्ता ९. कमलश्री १०. मनोहरी ११. देवलमती १२. सत्यभामा।

निधियों के नाम

१. कालनिधि २. महाकालनिधि ३. पांडुकनिधि ४. माणवक ५. नैसर्पनिधि ६ सर्वरत्ननिधि ७. शंखनिधि ८. पद्म निधि।

नगरों के नाम

१. राजगृह २. पाटलिपुत्र ३. रत्नसंचयपुर ४. पोदनापुर ५. तेरपुर ६. अयोध्या ७. यक्षपुर ८. किष्किंधापुर ९. भृगुकच्छ १०. अलकापुर ११ सिंहपुर।

नगरियों के नाम

१. उज्जयिनी २. वाराणसी ३. अयोध्या ४. पुण्डरीकिणी ५. द्वारावती ६. चम्पापुरी ७. पुष्कलावती ८. कौशाम्बी ९. मिथिला १०. चन्द्रपुरी ११. अहिछत्रपुरी १२. द्वारिकापुरी।

नदियों के नाम

१. गंगा २. सिंधु ३. रोहित ४. रोहितास्या ५. हरित ६. हरिकान्ता ७. सीता ८. सीतोदा ९. नारी १०. नरकान्ता ११. सुवर्ण कूला १२. रुप्य कूला १३. रक्ता १४. रक्तोदा।

पहाड़ों के नाम

१. हिमवत २. महाहिमवत ३. निषिध ४. नील ५. रुक्मि ६. शिखरिणी ७. मलयागिरि ८. मन्दारगिरि ९. रुचिकगिरि १०. गन्धमादन।

तालाबों के नाम

१. पद्म २. महापद्म ३. तिगिंछ ४. केसरि ५. महापुण्डरीक ६. पुण्डरीक।

ग्रामों (गाँवों) के नाम

१. संवर २, शाल्मलिखण्ड ३. गञ्जपुर ४. शूपरिक ५, आलोक ६. बेणातड़ाग ७, नन्दिग्राम ८. आनन्दपुर ९. रत्नपुर १०. पलासकूट ११. यशोपुर १२. धर्मपुर।

तीर्थ क्षेत्रों के नाम

१. सम्मेदशिखर २. पावापुर ३. राजगृही ४. चन्द्रपुरी ५. कौशाम्बी ६. हस्तिनापुर ७. स्वर्णगिरि (सोनागिरि) ८. कुण्डलपुर ९. सिद्धवर कूट १०. गिरनार ११. मांगी तुंगी १२. श्रवण बेलगोला।

सामान्य नर-नारियों के नाम

पुरुषों के नाम	नारियों के नाम
१. मानभद्र	१. मनोहरी
२. पूर्णभद्र	२. किन्नरी
३. चारुदत्त	३. नीलीबाई
४. रुद्रदत्त	४. कपिला
५. सुदृष्टि	५. वसुन्धरी
६. अञ्जन	६. सोमिला
७. लकुच	७. भद्रा
८. गोविन्द	८. सुलसा
९. सात्यकि	९. सुदत्त
१०. धरणीधर	१०. सूरदत्त
११. कपिल	११. कोशा
१२. माकन्दी	१२. उपकोशा
१३. मल्ल	१३. धनवती
१४ अट्ठण	१४. अचला
१५, फलहिय	१५. विरूपा
१६. मच्छिअ	१६. आर्द्रा
१७. भरत	१७. रूपवती
१८. रोहक	१८. धरित्री

नामों की इस संयोजना से कई तथ्य प्रकाश में आते हैं। नगरों के नामकरण में नरेशों के नामों का संकेत स्पष्ट है। एक युग था जब नृपति अपने नामों को कुछ समय के लिए अमरत्व प्रदान करने के लिए नगरों तथा ग्रामों के नाम-करण में अपने नामों को आधारभूत बनाते

थे। "कहा जाता है कि भरतवंश की छटी पीढ़ी में राजा हस्ति हुए। उन्होंने हस्तिनापुर नाम की नगरी बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था। इसी तरह भरत के पुत्र तक्ष ने तक्षशिला और पुष्कर ने पुष्करावती बसाई थी। बुन्देलखण्ड प्रान्त में चंदेल और बुन्देल राजाओं के बसाये हुए कई स्थल मौजूद हैं। मदनपुर को चंदेल राजा मदन वर्मा ने बसाया था। ललितपुर सुमेरसिंह की रानी ललिता का बसाया हुआ बताया जाता है। हमीरपुर को अलवर के किसी हमीर देव नामक राजपूत ने बसाया था।"[1] ग्रामों के सम्बन्ध में विशिष्ट पशु-पक्षियों एवं पादप-पुष्पों का बाहुल्य उल्लेख्य है। सूकरपुरा गाँव में जंगली सुअरों का एक समय बाहुल्य था। अतः ग्राम को सूकरपुरा नाम प्राप्त हुआ। इसी पकार कगलिया (कागों का आधिक्य सूचित करता है) इमलिया (इमली नामक वृक्षों का बाहुल्य बताता है) कैथा (कपित्थ–कैंथा की अधिकता सूचित करता है) बेला (एक प्रकार के सुगन्धित पुष्प का बाहुल्य प्रकट करता है) आदि ग्रामों के नाम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस प्रकार के हजारों ग्राम नाम प्रचलित हैं। कन्याओं एवं युवतियों के नाम कर्ण-प्रिय होने चाहिए—यह महर्षियों का मत है। ऋषियों के इस अभिमत का उपयोग नारियों तथा बालिकाओं के नामकरण में विशेषतः हुआ है। देवालयों, पर्वतों एवं सर-सरिताओं के नाम विशिष्ट ऋषि-मुनियों, विशिष्ट भू-भागों, घटनाविशेष, सलिल-रंगादि पर आधारित कहे गये हैं। विशिष्ट धातु की उपलब्धि कभी-कभी भूधर एवं सर-सरिताओं के नामकरण का आधार बन जाती है।

कतिपय नाम ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गौडी, मालवी, बुन्देली, बघेली, मराठी, छत्तीसगढ़ी, कन्नड, मलयालम आदि भाषा-बोलियों से है। ऐसे नामों का अध्ययन भी बड़ा रोचक होगा। आवश्यकता है विभिन्न भाषाओं और बोलियों के सम्यक् अध्ययन की। जैन कथाओं में आये हुए विभिन्न नामों का अनुशीलन यदि धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भाषा वैज्ञानिक, पुरा तत्त्वीय आदि दृष्टिकोणों से किया जाय तो इन नामों की सीमा, उत्पत्ति विस्तार आदि का एक विशद इतिहास हमें उपलब्ध हो सकता है। लेकिन यह कार्य बहुत प्रतिभावान विद्वान् के श्रम से ही पूर्ण हो सकेगा।

---

1. ग्रामों और नगरों का नामकरण—ले० श्रीकृष्णानन्द गुप्त मधुकर १ जुलाई १९४२।

जैन कथाओं का साहित्यिक सौन्दर्य

साहित्यिक दृष्टि से जैन कथा साहित्य की महत्ता सर्वमान्य है। साहित्य में जिस गरिमा, विश्व-कल्याण, उदात्त भावना, सांस्कृतिक प्रबोधन, सार्वभौमिक सहयोग, पुनीत सौन्दर्य बोध, सरसता, सत्यं, शिवं, सुन्दरं की व्यापकता, कलात्मक अभिव्यंजना, सार्वजनीन सरस भावुकता आदि की प्रतिष्ठा की गई है, उसकी रूपात्मक अभिव्यक्ति बड़े कौशल के साथ इन कथाओं में उपलब्ध होती है।

जैन कहानियों में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चार तत्वों का विशद विवेचन हुआ है, फिर भी धर्म साधना के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का उद्देश्य विशेषतः सर्वत्र मुखरित है। शृंगारादि नव रसों की यहाँ सरस अभिव्यंजना हुई है लेकिन आध्यात्मिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में शान्त रस की प्रधानता उल्लेख्य है। सांसारिक रूपासक्ति तथा वैभव शालिता की इन कथाओं में उपेक्षा प्रदर्शित नहीं हुई है अपितु यथावसर इनके रसपूर्ण चित्रण के साथ-साथ जीवन के चरम लक्ष्य–विरक्ति का सहज निरूपण करके कथाकार ने शम की प्रधानता को कभी नहीं भुलाया है। इन कहानियों में एक ओर शृंगार का सुखद सम्मिश्रण है और दूसरी ओर जीवन की विरक्ति शब्द-शब्द में मुखर हुई है। कतिपय कहानियों में राग (प्रेम) का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण किया है लेकिन कथा-समाप्ति पर इस राग की निस्सारता को बताकर कथाकार ने विरक्ति- परिपूर्ण एक महान् उद्देश्य की परिपुष्टि निम्नस्थ छन्दों की भावना में की है—

राग उदै जग अन्ध भयो,
सहजहि सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नर सीखत है,
विषयादिक सेवन की सुघराई।
तापर और रचैं रसकाव्य,
कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझन की अँखियान में,
झारत है रज रामदुहाई।

—भूधरदास

राग उदै भोग भव लागत सुहावने से,
बिना राग ऐसे लागैं जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सौं पाग रहे तन में सदीव जीव,
राग गए आवत गिलानी होत न्यारे हैं।
राग सौं जगत रीति झूठी सब साँची जानै,
राग मिटै सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी बिन रागी के विचार में बड़ौई भेद,
जैसे भटा पच काहू-काहू को बयारे हैं।

—भूधरदास

"हिन्दी जैन साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें शान्त रस की सरिता ही सर्वत्र प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत और प्राकृत के जैन ग्रन्थकारों के समान हिन्दी जैन ग्रन्थकारों का भी एक ही लक्ष्य रहा है कि मनुष्य किसी तरह सांसारिक विषयों के फन्दे से निकल कर अपने को पहचाने और अपने उत्थान का प्रयत्न करे। इसी लक्ष्य को सामने रखकर सबने अपनी रचनाएँ की हैं। हिन्दी जैन साहित्य में ही नहीं, अपितु हिन्दी साहित्य में कविवर बनारसीदास जी की आत्मकथा तो एक अपूर्व ही रचना है। उनका नाटक समयानुसार भी अध्यात्म का एक अपूर्व ग्रन्थ है।'[1]

इन पंक्तियों में अभिव्यक्त विचारधारा जैन कथा साहित्य के उद्देश्य के ही अनुरूप है।

1, जैन धर्म—ले० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, पृष्ठ २५७

जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है, जैन कवियों के समान ही जैन कथाकारों ने जीवन के समस्त रूपों को चित्रित कर उन पर विरक्ति का गहरा रंग शान्ति-तूलिका से इस प्रकार किया हैं कि 'शम' के चित्र सर्वत्र उभर कर सुशोभित हो रहे हैं।

'जैन कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनमें जीवन-विरक्ति बहुत अधिक मात्रा में है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसी की ओर संकेत करते हुए लिखा हैं कि साधारणतया जैन साहित्य में जैन धर्म का ही शान्त वातावरण व्याप्त है, संत के हृदय में शृंगार कैसा ? जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य, किन्तु वह आरंभ नहीं परिणति है। संभवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है। जैन कवि इसे अच्छी तरह से जानता है, इसलिये उसने शम या विरक्ति को उद्देश्य के रूप में मानते हुए भी सांसारिक वैभव, रूप, विलास और कामासक्ति का चित्रण भी पूरे यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। जीवन का भोग पक्ष इतना निर्बल तथा सहज आक्राम्य नहीं होता, इसका आकर्षण दुर्निवार्य है, आसक्ति स्वाभाविक, इसीलिए साधना के कृपाण पथ पर चलने वालों के लिए यह और भी भयंकर हो जाते हैं। सिद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य में रूप सौन्दर्य का चित्रण कहीं ज्यादा बारीक और रंगीन हुआ है, क्योंकि जैन धर्म का संस्कार रूप को निर्वाण प्राप्ति के लिए सहायक नहीं मानता, रूप अदम्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक है—इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृंगार का बड़ा ही उद्दाम वासनापूर्ण और क्षोभकारक चित्रण किया है, जड़ पदार्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण जितना घनिष्ठ होगा, उससे विरक्ति उतनी ही तीव्र। शमन शक्ति की महत्ता का अनुमान तो इन्द्रिय भोग-स्पृहा की ताकत से ही किया जा सकता है। नारी के शृंगारिक रूप, यौवन, तथा तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण इसी कारण बहुत सूक्ष्मता से किया गया है। जैन-कवि पौराणिक चरित्रों में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ही स्थापना करता है। उसके चरित्र अवतारी जीव नहीं होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आतंक से कभी भी कृत्रिम नहीं हो पाते। वे एक ऐसी जीवात्मा का चित्रण करते हैं जो अपनी आंतरिक शक्तियों को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सचेष्ट हैं। उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण में साँस लेती हैं, किन्तु पंक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड़ सत्ता सांसारिक वातावरण से अलग नहीं है। इसीलिए संसार के अप्रतिम

सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहने वाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है । जैन शृंगार-वर्णन के इस विवरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक काव्यों में जिनका मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रचार था, शृंगार कभी उपेक्षित नहीं रहा, बल्कि इन वर्णनों से तो इसकी अतिशयता का भी पता चलता है ।"[1]

इस उद्धरण से जो तथ्य जैन कवि के सम्बन्ध में कहे गये हैं, वे जैन कथाकार के विषय में भी पूर्ण रूप से लागू होते हैं ।

जैन कथाकारों ने मानव की सहज प्रवृत्तियों का भी बड़ी सहृदयता से चित्रण किया है । दीन हीन की व्यथा क्या होती है आराध्य के प्रति आराधक की भक्ति में कितनी प्रगाढ़ता रहती है ? संघर्षों से जूझने की दृढ़ता जैन तपस्वियो में अगाध है । काम-क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत होकर प्राणी कितना अधम बन जाता है आदि की अभिव्यंजना जैन कहानियों में स्वाभाविक रूप से हुई है । विविध रसों का परिपाक इन कहानियों में इस रूप में हुआ है कि पाठक, एवं श्रोता प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । पलायनवादी प्रवृत्ति का विरोध करते हुए कथाकारों ने यथार्थवाद के धरातल पर आदर्शवाद की सुदृढ़ स्थापना की है । उदात्त चरित्रों की सृष्टि ने मानव की हीन भावनाओं की रेखाओं को अस्तित्वहीन बना दिया है । स्वस्थ सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक वातावरण ने युग की मान्यताओं को पर्याप्त परिपुष्टि प्रदान की है । इन कथाओं में अभिव्यंजित भावनाओं की गहनता, मार्मिक संवेदना तथा विश्व-बन्धुत्व की कामना इतनी गहरी रेखाओं में उभरी हैं कि युग-युगों तक इन कहानियों की लोकप्रियता जीवित रहेगी ।

भाव पक्ष की भाँति इस कथा साहित्य का कला पक्ष भी बड़ा सुन्दर एवं भव्य है । साहित्य की एक प्रमुख विधा कहानी है, जिसके द्वारा साहित्य का संतुलित तथा मनोरम रूप निखरता है । संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशादि भाषाओं से अनूदित इन जैन कहानियों में बड़ी सरल भाषा अपनाई गई है । प्रान्तों एवं नगरों आदि के विवरण इतने सुन्दर प्रस्तुत किये गए हैं कि सामान्य पाठक एवं श्रोता भी सहज में ही प्रभावित हो उठता है । इन वर्णनों में मुहावरेदार आलंकारिक एवं लोकोक्तियों से सम्पन्न भाषा बड़ी सुहावनी लगती है । सुबोध और सरस शैली में लिखित ये कथाएँ जन-जीवन की विशि-

---

1. विद्यापति—ले० श्री शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ ११० तथा ११३–११४

ष्ट धरोहर हैं। यहाँ कुछ वर्णन प्रस्तुत किये जाते हैं जो भाषा की दृष्टि से पठनीय हैं—

(१)

इस भरत क्षेत्र में काशी नामक प्रदेश है जहाँ हाथियों के झुण्ड विचरण करते हैं और जहाँ सरोवर कमल-पुष्पों से शोभायमान हो रहे हैं। वे चकवों को धारण करते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे रथी अपने रथों के चक्कों को धारण किये हों। इस प्रदेश की सरिताओं में प्रचुर पानी बहता रहता है और इस प्रकार वे उन शूल व कृपाणधारी वीराङ्गनाओं का अनुसरण करती हैं जिनके शस्त्रों की धारें खूब पानीदार अर्थात पैनी है। वहाँ के सघन वन-उपवन सरस फलों से व्याप्त है जिनका शुक चुम्बन करते हैं, इसी प्रकार यहाँ की पुरनारियों के मुख कमल लावण्ययुक्त हैं जिनसे वे अपने पुत्रों के मुखों का खूब चुम्बन करती हैं। वहाँ के ग्रामीण किसान जब अपसे काँस के खेतों को जोतने के लिए हलों को हाथ में लेकरे चलते हैं तब वे विष्णु और हलधर (बलभद्र) के समान दिखाई देते हैं।

(सुयंघ दहमी कहा—का हिन्दी अनुवाद)

जिस अवन्ति देश में पुण्यवान् पुरुषों के गृह धनादि लक्ष्मी के साथ और लक्ष्मी पात्रदान के साथ एवं पात्रदान सन्मानादि विधि के साथ स्वाभाविक स्नेह प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार क्षीर समुद्र के तटवर्ती पर्वतों के समूह उसकी तरंगों से सुशोभित होते हैं उसी प्रकार वहाँ के गृह भी क्रीड़ा करते हुए बछड़ों के समूह से शोभायमान होते थे।

यशस्तिलक चम्पू काव्य—द्वितीय आश्वास पृष्ठ १०४

वैशाख कृष्ण दशमी को श्रवण नक्षत्र और शुभ दिन में तीन ज्ञान धारी पुत्र का जन्म हुआ। जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रचण्ड तेजस्वी निर्भय सूर्य को जन्म देती है, उसी प्रकार माता ने महान् तेजस्वी तथा संसार में ज्ञान का प्रकाश करने वाले पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म समय सभी दिशाएँ निर्मल हो गयीं, आकाश स्वच्छ हो गया, शीतल हवा बहने लगी। कुटुम्ब में अत्यन्त हर्ष हुआ, घर-घर में गीत-नृत्य होने लगे। मनोहर बाजे बजने लगे। स्वर्ग में घंटानाद, ज्योतिलोक में सिंहनाद, व्यन्तरों के यहाँ दुन्दुभिनाद और भवनवासियों के यहाँ शंखनाद होने लगा। चतुर्निकाय के देवों के यहाँ पारिजात आदि फूलों की वर्षा हुई तथा बाजे बजने लगे। देवों के मुकुटों में चमक

अधिक आ गई उन्होंने अवधि ज्ञान से जान लिया कि भगवान् तीर्थंकर का जन्म हुआ है।

(भगवान मुनिसुव्रतनाथ का जन्मोत्सव)

रामचरित (भट्टारक सोमसेन विरचित रामपुराण का हिन्दी अनुवाद) पृ. ७३

यह कहना उचित ही है कि साहित्य के विशद परिवेश में जो स्वाभाविक वर्णनों एवं चित्रणों की उपलब्धि हुई है, उसका बहुत कुछ श्रेय कथा साहित्य को दिया जा सकता है। भावनात्मक एवं क्रियात्मक असाम्प्रदायिकता जो साहित्य में प्राप्त है, वह इन कथाओं के सहारे ही यहाँ अंकुरित, पल्लवित, एवं फलित हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन कथाओं का साहित्यिक महत्व विविध दृष्टिकोणों से चिरन्तन तथा सार्वभौम है।

जैन-कथाओं में समुद्र-यात्राएँ

पुरातन जैन-कथाओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में व्यापार अनेक असुविधाओं के होने पर भी उन्नत था। व्यापारी लोग दूर-दूर देशों में जाकर माल बेचते और खरीदते थे। मार्ग सुरक्षित न थे और चोर-डाकू व्यापारियों को सताते और उनके धनादि का अपहरण करते रहते थे। अनेक कष्टों को झेलते हुए भी व्यापारियों का दल जल-थल यात्रा करता था। तथा विविध देवो-देवताओं की अर्चना करके अपने मन्तव्यों की पूर्ति की कामना से अपनी वैभव वृद्धि में सफल होता था।

इन यात्राओं (सामुद्रिक यात्राओं) से विदित होता है कि व्यापारिक केन्द्र बड़े नगरों में होते थे और कई द्वीपों से रत्नादि की प्राप्ति भी होती थी। कुशल व्यापारी साहस के साथ जल यात्राएं करते थे। धनोपार्जन के साथ-साथ अनुभव में भी वृद्धि करते थे एवं कौनसी वस्तु कहाँ प्राप्त होती है और कौन से पदार्थ की मांग कहाँ है इन सब व्यापारिक तत्वों को समझ कर अपनी श्री वृद्धि करके सन्तुष्ट होते थे।

इन समुद्र यात्राओं के उपलब्ध विवरण यह भी बताते हैं कि व्यापारी तूफानों से किस प्रकार जूझते थे, तथा विपत्ति के क्षणों में सामूहिक सहयोग और दृढ़ता से किस प्रकार अगाध जल-राशि की क्षुब्ध धारा को शान्त वातावरण में परिवर्तन कर देते थे। जल-देवता की पूजा जल-यात्रा प्रारम्भ करते समय अनिवार्य रूप से की जाती थी और सफल यात्रा की खुशी में जल-देवता को पूर्ण आस्था से धन्यवाद भी दिया जाता था।

कई ऐसे दुःखद अवसरों पर जब व्यापारी लोग जहाज के टकराने पर जल की धारा के साथ तैरते हुए दिखाई देते, तब जल-देवी-दयावती बनकर पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करती थी। "जैन साहित्य में यात्री और सार्थवाह" शीर्षक निबन्ध में डा० मोतीचन्द्र लिखते हैं:—"जैन धर्म मुख्यतः व्यापारियों का धर्म था और है और इसलिए जैन धर्म-ग्रन्थों में व्यापारियों की चर्चा आना स्वाभाविक है। व्यापार के सम्बन्ध में जैन साहित्य में कुछ ऐसी परिभाषाएँ आयी हैं जिन्हें जानना इसीलिए आवश्यक है कि और दूसरे साहित्यों में प्रायः ऐसी व्याख्याएँ नहीं मिलतीं। इन व्याख्याओं से हमें यह भी पता चलता है कि माल किन किन स्थानों में बिकता था तथा प्राचीन भारत में माल खरीदने बेचने तथा ले जाने ले आने के लिए जो बहुत सी मंडियां होती थीं उनमें कौन कौन से फरक होते थे। जैन साहित्य से पता चलता है कि राजमार्गों पर डाकुओं का बड़ा उपद्रव रहता था। विपाक-सूत्र में विजय नाम के बड़े साहसी डाकू की कथा है। चोर पल्लियां प्रायः वनों खाइयों और बंसवारियों से घिरी और पानी वाली पर्वतीय घाटियों में स्थित होती थीं।

अपने धार्मिक आचारों की कठिनता के कारण जैन साधु तो समुद्र यात्रा नहीं करते थे, पर जैन सार्थवाह और व्यापारी बौद्धों की तरह समुद्र यात्रा के कायल थे। इन यात्राओं का बड़ा सजीव वर्णन प्राचीन जैन-साहित्य में आया है। आवश्यक चूर्णि से पता चलता है कि दक्षिण-मदुरा से सुराष्ट्र को बराबर जहाज चला करते थे। एक जगह कथा आई है कि पंडु मथुरा के राजा पंडुसेन की मति और सुमति नाम की दो कन्याएँ जब जहाज से सुराष्ट्र को चलीं तो रास्ते में तूफान आया और यात्री बचने के लिए रुद्र और स्कन्ध की प्रार्थना करने लगे।

समुद्र यात्रा के कुशलपूर्वक होने का बहुत कुछ श्रेय अनुकूल वायु को होता था। निर्यामकों को समुद्री हवा के रूखों का कुशल ज्ञान जहाजरानी के लिए बहुत आवश्यक माना जाता था। हवाएँ सोलह प्रकार की मानी जाती थीं। यथाः—१. प्राचीन वात (पूर्वी) २. उदीचीन वात (उत्तराहट) ३. दाक्षिणात्य वात (दखीनाहट) ४. उत्तर पौरस्त्य (सामने से चलती हुई उतराहट) ५. सत्वासुक (शायद चौ आई) ६. दक्षिण पूर्व तुंगार (दक्खिन पूरब से चलती हुई जोरदार हवा को तुंगार कहते थे) ७. ऊपर दक्षिण बीजाय ८. ऊपर बीजाय ९. अपरोत्तर गर्जन (पश्चिमोत्तरी तूफान) १०. उत्तर सत्वासुक ११. दक्षिण सत्वासुक १२. पूर्व तुंगार १३. दक्षिण

बीजाय १४. पश्चिम बीजाय १५. पश्चिमी गर्जभ १६. उत्तरी गर्जभ (श्री सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ से साभार)"

यहां जैन कथाओं के कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनका सम्बन्ध समुद्र यात्राओं से है। इनसे स्पष्ट होता है कि सागर यात्राएँ कितनी कष्ट-प्रद एवं विषमता पूर्ण होती थीं साथ ही साथ ये यात्राएँ यह भी बताती हैं कि पुरातन काल में भारतीय व्यापार बड़ा समृद्ध था तथा इस विशाल श्री सम्पन्न देश में सुगन्धित द्रव्य, मनोरम वस्त्र, रत्न, खिलौने आदि बाहर जाते थे और बहुत से सुरभित पदार्थ, रत्न, सुवर्ण आदि अन्य देशों से इस देश में आते थे। इन जल-निधि यात्राओं से यह भी प्रकट होता है कि वर्तमान काल की भाँति प्राचीन काल में भी व्यापारी नियमित कर नहीं चुकाते थे और चोरी से माल का निर्यात भी करते थे।

भविष्यदत्त का भाई बंधुदत्त व्यापार कर जहाजों में बहुत सा माल खजाना लाद कर लौट रहा था कि मार्ग में सबका सब माल चोरों ने लूट लिया। भविष्य दत्त की कथा पुण्याश्रव कथाकोष पृ, २३०

—उसके बाद चारुदत्त के मामा ने कहा-कि मेरे पास सोलह करोड़ का द्रव्य है सो तुम उसे लेकर काम-काज चलाओ और कुछ चिन्ता मत करो। चारुदत्त ने कहा व्यापार अन्य देशों में अच्छा हो सकता है यहाँ पर नहीं। सिद्धार्थ और चारुदत्त व्यापार करते हुए प्रियंगुबेला नगर में गए। वहाँ चारुदत्त के पिता भानु का सुरेन्द्रदत्त नाम का मित्र रहता था। वह इन दोनों को द्वीपान्तर व्यापार के लिए ले गया। बारह वर्ष में असीम द्रव्य कमाया। उसको लेकर दोनों घर को लौट रहे थे कि अचानक समुद्र में जहाज फट गया। बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों का सहारा पाकर बड़ी कठिनता से दोनों प्राण बचाकर किनारे आ लगे।

(अर्द्धदग्ध पुरुष और बकरे की कथा-पुण्याश्रव कथाकोष पृष्ठ ८२)

चम्पा नगरी में माकन्दी नाम का एक बड़ा व्यापारी रहता था। उसके जिन पालित और जिन रक्षित दो पुत्र थे। माकन्दी के दोनों पुत्र बड़े चतुर और बड़े साहसी थे। उन्होंने लवण समुद्र (हिन्द महासागर की ग्यारह बार यात्रा कर बहुत सा धन संचित किया था। एक बार जिन पालित और जिन रक्षित ने सोचा कि एक बार फिर से समुद्र यात्रा कर धन कमाना चाहिए। माता-पिता के विरोध करने पर भी ये दोनों अपनी नाव में बहुत सा माल भरकर विदेश को चल दिये। कुछ दूर पहुँचने पर आकाश में बादल घिर आए, बादल गरजने लगे, बिजली कड़कने लगी और हवा चलने लगी। देखते

देखदे नाव उछलने लगी । उसके तख्ते टूटकर गिरने लगे, जोड़ें फटने लगीं, कीलें गिरने लगीं, नाव की रस्सियां टूट गयीं, पतवारें जाती रहीं, ध्वजा के डण्डे नष्ट हो गए । नाव एक पहाड़ से टकराकर चूर-चूर हो गयी । माल असबाब समुद्र में डूब गया और व्यापारियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा । (माकन्दी पुत्रों की कहानी–दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ—ले० डॉ० जगदीश चन्द्र जैन)

ज्ञात धर्म की दो कथाओं से भी प्राचीन भारतीय जहाजरानी पर काफी प्रकाश पड़ता है । एक कहानी में कहा गया है कि चम्पा में समुद्री व्यापारी (नाव वार्णिए याग) रहते थे । ये व्यापारी नाव द्वारा गणिम (गिनती) धरिम (तौल) परिच्छेद्य तथा मेय(नाप) की वस्तुओं का विदेशों से व्यापार करते थे । चम्पा से यह सब माल बैल-गाड़ियों पर लाद दिया जाता था । यात्रा के समय मित्रों और रिस्तेदारों का भोज होता था । व्यापारी सबसे मिल मिलाकर शुभ मुहूर्त में गंभीर नाम के बंदर (पोयपत्तण) की यात्रा पर निकल पड़ते थे । बन्दरगाह पर पहुँच कर गाड़ियों पर से सब तरह का माल उतार कर जहाज पर चढ़ाया जाता था और उसके साथ ही खाने-पीने का सामान जैसे चावल, आटा, तेल. घी, गोरस, मीठे पानी की दोड़ियां, औषधियां तथा बीमारों के लिए पथ्य भी लाद दिये जाते थे । समय पर काम आने के लिए पुआल, लकड़ी, पहनने के कपड़े, अन्न, शस्त्र तथा बहुत सी वस्तुएँ और कीमती माल भी साथ में रख लिये जाते थे । जहाज छूटने के समय व्यापारियों के मित्र और सम्बन्धी शुभकामनाएँ तथा व्यापार में पूरा फायदा करके कुशल पूर्वक लौट आने की हार्दिक इच्छा प्रकट करते थे । व्यापारी समुद्र और वायु की पुष्प और गंध द्रव्य से पूजा करने के बाद मस्तूलों पर पताकाएँ चढ़ा देते थे. जहाज छूटने के पहले वे राजाज्ञा भी ले लेते थे । मंगल वाद्यों की तुमुल ध्वनि के बीच व्यापारी जहाज पर सवार होते थे ।" (जैन साहित्य में यात्री और सार्थवाह' शीर्षक निबन्ध से साभार)

एक दूसरी कहानी में कहा गया है कि सामूहिक विपत्तियों के समय व्यापारी स्नानादि करके इन्द्र और स्कन्द की पूजा किया करते थे ।

ऐसी सैकड़ों जैन-कथाएँ हैं जिनमें समुद्र-यात्राओं के बड़े रोचक वर्णन प्रस्तुत किए गए हैं । कई कथाओं में पोत निर्माण कला का भी उल्लेख हुआ है । इन कहानियों से यह भी ज्ञात होता है कि इस देश में विदेशों के दास दासियों की अच्छी खपत थी तथा यहाँ के हाथी दाँतों की दूरस्थ देशों में अच्छी मांग थी । कतिपय कथाएँ बताती हैं कि इस देश में बाहर से आए

सुन्दर एवं बलिष्ट अश्वों की ओर यहाँ राजा-महाराजाओं का अधिक आकर्षण था।

कुछ ऐसी भी प्राकृत एवं अपभ्रंश जैन-कथाएँ उपलब्ध होती हैं जिनसे विदित होता है कि जहाजों द्वारा भेजे गए एवं लाए गए माल की बन्दरगाहों पर पूरी जांच होती थी और कर की वसूली कठोरता से की जाती थी। जो माल राजाज्ञा के अभाव में इधर-उधर भेजा जाता था, जांच करने पर वह जब्त कर लिया जाता था एवं सम्बन्धित व्यापारी को नियमानुसार दंडित भी किया जाता था।

इन सामूहिक यात्राओं ने हमारी संस्कृति एवं सभ्यता को भी प्रभावित किया था। बाह्य देशों के सम्पर्क से हमारी विचार-धारा परिपुष्ट हुई थी एवं संकुचित मान्यताओं में विकास की भावनाएँ अंकुरित हुई थीं। इस प्रकार व्यापारिक अभिवृद्धि के साथ-साथ इन सागर-यात्राओं के माध्यम से हमारी सांस्कृतिक गरिमा भी दूरस्थ देशों में प्रतिष्ठित हुई।

जैन-कथाओं में सौन्दर्य-बोध

जीव मात्र के लिए सौन्दर्य उल्लास जनक है अतः इसके प्रति प्रत्येक प्राणी का आकर्षण स्वाभाविक ही है। सुन्दरता से आकृष्ट मानस में शनैः शनैः जो अधीरता उत्पन्न होती है वह कुछ काल के उपरांत निष्ठा में परिवर्तित हो जाती है और पुनः सौन्दर्य प्रेमी का हृदय सर्वत्र उसी सुन्दरता को व्यापार रूप में देखने लगता है जिसके लिए वह कभी आतुर और व्यग्र था।

सौन्दर्य विषयक दृष्टि-कोण को किसी विशिष्ट परिधि में नहीं बांधा जा सकता है। रुचि की विभिन्नता सुन्दरता सम्बन्धी भावना में भिन्नत्व को समुत्पन्न कर देती है। महाकवि बिहारी ने सत्य ही कहा है कि—

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ।
(बिहारी रत्नाकर पृ. ४३२)

इस परम सौन्दर्यमय सर्वव्यापी सृष्टि में कोई रूप कुरूप नहीं है। समय-समय पर (अपने-अपने अवसर पर) सब ही सुन्दर लगते हैं। मनुष्य के मन की रुचि (चाह) जिस समय जिस ओर जितनी-होती है उस ओर (उस वस्तु के पक्ष में) उतनी रुचि हो जाती है।

सौन्दर्य जन्य उन्माद बड़ा विलक्षण होता है। इसके नशे में चूर इन्सान सब कुछ भूलकर अपनी प्यारी छबि के लिए दिन रात तड़पता रहता

है। यह रूप की प्यास कभी मिटती ही नहीं है। कविवर बिहारी के शब्दों में छबि का छाक और सब नशों से बड़ा विषम होता है—

उर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-बिपाकु
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छबि-छाकु।

(बिहारी-रत्नाकर पृ. ३१८)

'जिगर' साहब इस नशे की तारीफ करते हुए कहते हैं—

यह नशा भी क्या नशा है,
कहते हैं जिसे हुस्न।
जब देखिए कुछ नींद सी,
आँखों में भरी है।
(हुस्न=सौन्दर्य)

कवि प्रसाद ने सौन्दर्य को चेतना का उज्वल वरदान कहा है—

उज्वल वरदान चेतना का,
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के,
सपने सब जगते रहते हैं।

(कामायनी)

"सौन्दर्य की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। गार्टेन सौन्दर्य-शास्त्र के जनक माने जाते हैं। उनके मतानुसार तार्किक ज्ञान का लक्ष्य सत्य है और रागात्मक ज्ञान का लक्ष्य सौन्दर्य है। सल्जर, मौलि आदि के मत गार्टेन के मत के प्रतिकूल हैं। वे कला का लक्ष्य सौन्दर्य नहीं पर शिव मानते हैं और इसलिए वे उसी वस्तु में सौन्दर्य मानते है जो शिव-समन्वित हो। उनके मतानुसार मानव-जीवन का लक्ष्य समाज कल्याण है, जिसकी प्राप्ति नैतिक भावनाओं के संस्कार से ही संभव है। सौन्दर्य इसी भावना को जाग्रत और संस्कृत करने का कार्य करता है। इनका दृष्टिकोण सुन्दर शरीर में सुन्दर आत्मा के सिद्धान्त का समर्थक है। बंकेलमेन समस्त कला का विधान और लक्ष्य केवल सौन्दर्य को मानते और सौन्दर्य को रूप सौन्दर्य विचार सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति सौन्दर्य के रूप में विभाजित करते हैं। जर्मन विद्वानों ने सौन्दर्य को एक ऐसी वस्तु समझा है जो निर्विकल्प रूप से स्थित है और न्यूनाधिक प्रमाण से शिव युक्त है। 'होम' सौन्दर्य उसे मानते हैं जो सुखद हो।

अतः सौन्दर्य की परिभाषा रुचि के अधीन है। फ्रेंच विद्वानों का भी यही मत है। काण्ट के मतानुसार सौन्दर्य वह है जो बिना किसी तर्क या व्यावहारिक लाभ के सदैव निश्चित रूप से आनन्द प्रदान करता है। बंगमैन वस्तुओं के इन्द्रियातीत गुण को सौन्दर्य समझते हैं। तेन के अनुसार सौन्दर्य किसी महत्वपूर्ण विचार के अनिवार्य लक्षण का पूर्णतम प्रकाशन है।"[1]

बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक सौन्दर्य इस प्रकार दो रूपों में विभाजित सौन्दर्य के कुछ आवश्यक गुण भी माने गए हैं। काव्य में जिस समन्वित सौन्दर्य की सृष्टि होती है उसके छः आवश्यक गुण आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र में माने गए हैं। वे हैं (१) समतुल्यता (२) संगति या सम्यकता (३) ताल (४) सन्तुलन (५) अनुपात और (६) एकता।'[2]

सतत सुख का जनक सौन्दर्य तो सद्य व प्रतिक्षण वर्द्धमान है विकाशशील हैं, यदि वह ऐसा नहीं है तो उसे हम सौन्दर्य नहीं कह सकते हैं। संस्कृत के महाकवि माघ ने भी इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है— 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' पल-पल में विकासोन्मुख सौन्दर्य की भावना को रीतिकाल के सुप्रसिद्ध महाकवि बिहारी ने एक अंकुरित-यौवना नायिका की क्षण-क्षण में बढ़ती हुई शरीर कांति की सखी द्वारा प्रशंसा कराकर इस प्रकार अभिव्यंजित किया है :—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर

(बिहारी रत्नाकर ३४७)

भला मैं बेचारी उसकी प्रतिक्षण बढ़ती हुई शोभा का वर्णन क्या कर सकती हूं, जिसका यथार्थ चित्र लिखने के निमित्त घमंड तथा अभिमान से भर-भर कर बैठे जगत के कितने चतुर चितेरे असफल हुए हैं। बाह्य सौन्दर्य चित्रण में कवियों एवं कलाकारों ने अलंकारादि को भी अपनाया है। कतिपय सौन्दर्य प्रेमी काव्यकारों ने खूबसूरती के लिए भूषणों को अनावश्यक बताया है— स्वयं सुन्दरता के अनन्य प्रेमी बिहारी ने सोने के गहनों को दर्पण के मोरचे एवं पावदान के रूप में कहा है—

1. साहित्यिक निबन्ध ले० डॉ० कृष्णलाल (सूरसाहित्य में सौन्दर्य भावना-पृष्ठ १२८)
2. साहित्य का विश्लेषण-ले० डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद पृष्ठ ७१

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेत ।
दरपन के से मोरचे, देत दिखाई देत ।
(बि. रत्नाकर. २३५)

मानहु विधि तन-अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज ।
दृग-पग-पोंछन कौं करे, भूषन पायंदाज ।
(बि. रत्नाकर ४१३)

लेकिन केशवदास, देव आदि कुछ ऐसे भी रसिक कवि हैं जिन्हें अनलंकृत कामिनी का सौन्दर्य सलौना नहीं लगता है । यदि अर्थालंकार-विहीना सरस्वती इन्हें विधवा के समान असुन्दर लगती है (अर्थालंकार रहिता विधवैव सरस्वती) तो फिर भूषणों से रहित बनिता का इन काव्यकारों की दृष्टि में अशोभना प्रतीत होना स्वाभाविक ही है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी,
सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न बिराजई,
कविता बनिता मित्त । (केशवदास)
कविता कामिनि सुखद पद,
सुबरन सरस सुजाति ।
अलंकार पहिरे अधिक,
अद्भुत रूप लखाति (देव)

बाह्य साज-सज्जा सौन्दर्य के निखार में कुछ अंशों तक अवश्य सहायक बनती है । गोरे रंग पर श्याम साड़ी आकर्षक लगती ही है । इसी प्रकार नील परिधान भी तो गोरी गर्वीली कामिनि के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करता ही है । नारी-सौन्दर्य चित्रण में सिद्धहस्त कविवर प्रसाद ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य कामायिनी में श्रद्धा की सुन्दरता का बड़ा ही आकर्षक चित्रण किया है, और उसमें बाह्य साज-सज्जा को भी अपनाया है—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।

खूबसूरती को अधिक वाचाल बनाने में हाव-भाव, अदा, नाजो-नजाकत आदि का भी उल्लेख्य सहयोग माना गया है । प्रायः समस्त कवियों एवं

कलाकारों ने सौन्दर्य चित्रण में कामिनी के हाव-भावों को अधिक मनोयोग से अंकित किया है। उर्दू के शायरों की शायरी तो इस संदर्भ में भुलाई नहीं जा सकती है—

दरियाए-हुस्न और भी दो हाथ बढ़ गया।
अँगड़ाई उसने नशे में ली जब उठा के हाथ। नासिर

अँगड़ाई भी वह लेने न पाये थे उठा के हाथ।
देखा जो मुझको छोड़ दिए मुस्करा के हाथ। निजाम रामपुरी,

मुहब्बत हर किसी के दिल में
करलेती है घर अपना।
कभी-तिर्छी नजर होकर,
कभी-सीधी नजर होकर।

(अज्ञात)

जैन कथाओं में सौन्दर्य का चित्रण उनके रूपों में हुआ है। बाह्य सौन्दर्य को आकर्षक रीति से चित्रित करते हुए इन जैन कथाकारों ने भाव सौन्दर्य का भी बड़ी तत्परता से अभिव्यंजित किया है। बाह्य सौन्दर्य एवं अन्तः सौन्दर्य एक दूसरे के पूरक हैं। रूप सौन्दर्य (बाह्य सौन्दर्य) को अंकित करते हुए इन जैन कथाकारों ने उपमा, उदाहरण, रूपक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया है। इस रूप-चित्रण में सुन्दरता का पार्थिव रूप विशेषतः प्रस्फुटित हुआ है। इस सम्बन्ध में बहुमूल्य वेशभूषा की भी कहानीकारों ने चर्चा की है। यहाँ अंग-प्रत्यंगों के लालित्य की तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई है। भाषा की मृदुलता के साथ-साथ उपमाओं की मनोरमता एवं कल्पनाओं की अभिनव और रम्य उड़ान द्रष्टव्य है।

आयु के परिवर्तन से सुन्दरता में जो नूतन उन्मेष परिलक्षित होता है, उसे भी इन कथाकारों ने बड़ी सजगता और तल्लीनता से चित्रित किया है। इस सौन्दर्याभिव्यक्ति में परमपूज्य तीर्थंकर, तीर्थंकरों की महाभाग्य शालिनी जननी, साध्वी, नृपति, महिषी, कामिनी, नवोढ़ा, अंकुरित यौवना, प्रेमी, प्रेमिका आदि सबको समुचित गौरव प्राप्त हुआ है। चेतन सौन्दर्य के साथ इन कथाओं में अचेतन सुन्दरता की भी यथावसर अभिव्यंजना हुई है। यह चेतना-विहीन सौन्दर्य बड़ा आकर्षक होता है। स्थापत्य कला की खूबसूरती से देवता भी तो आकृष्ट होते हैं। विशाल जिनालयों के दर्शनार्थ स्वर्गलोक के निवासी सुरादि सदैव लालायित रहा करते हैं। प्रणम्य जिन प्रतिमाओं का भाव-सौन्दर्य एवं बाह्य सौन्दर्य कितना प्रभावोत्पादक होता है, इसे कला

विद् एवं भक्त भली भाँति जानते हैं। यहाँ सौन्दर्य विषयक कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

भगवान ऋषभदेव के सौन्दर्य का वर्णन—

'भगवान के छत्राकार मस्तक पर काले-काले घूंघरवाले केश रूपाचल की शिखर पर जड़ी हुई नीलमणियों की शोभा धारण करते थे। उनके ललाट, नाक, कमल के नाल दण्डों के समान लंबायमान कान चढ़े हुए धनुष के समान दोनों भौंये इतने कमनीय थे कि उनका वर्णन करना भी कठिन है। उनके दोनों नेत्र और श्रोत्र कमल दल के समान सुन्दर थे। दाँत अतिशय निर्मल मोती सरीखे थे अत्यन्त चमकीले सम और छोटे-छोटे थे एवं सफेद कुन्द पुष्प की शोभा धारण करते थे।' (हरिवंश पुराण पृष्ठ १२६)

महारानी मरुदेवी की सुन्दरता का चित्रण—

रानी मरुदेवी साक्षात समुद्र की लहर जान पड़ती थी, क्योंकि समुद्र की लहर में जिस प्रकार शंख, मूँगे, और मुक्ता फल होते हैं उसी प्रकार यहाँ पर भी शंख के समान गोल ग्रीवा थी, अधर पल्लव मनोहर मूँगे और दाँत देदीप्यमान मुक्ताफल थे। उनके वचन कोकिला के शब्द के समान मिष्ट जान पड़ते थे। उनके दोनों नेत्र श्वेत-श्याम और रक्त तीन वर्ण वाले कमल के समान सुन्दर थे—

(हरिवंश पुराण पृष्ठ १११–११२)

साध्वी का सौन्दर्य चित्रण

पुष्पों के समान कोमल भुजारूपी लताओं से मंडित वह कन्या जो भूषण और माला आदि पहने थी, उसने सब उतार दिये और अपने हाथ की उंगलियों से मनोहर केशों को उखाड़ती हुई ऐसी जान पड़ने लगी मानो हृदय से भयंकर शल्य समूह को उखाड़ रही है। उसके जघन वक्षःस्थल, स्तन, उदर और शरीर एक श्वेत वस्त्र से ढके थे इसलिए उस समय वह श्वेत बालु से युक्त निर्मल जल से भरी हुइ शरद ऋतु की नदी सरीखी जान पड़ती थी।

(हरिवंश पुराण पृष्ठ ४६०)

एक कामिनी की सुन्दरता का अंकन

स्त्रियों के मध्य में एक अतिशय मनोहर साक्षात् रति के समान स्त्री बैठी थी। अचानक ही उस पर राजा की दृष्टि पड़ गई। उसका मुख चन्द्रमा

के समान था। नेत्र कमल के समान थे। दोनों ओष्ठ बिंबाफल सरीखे और कंठ शंख तुल्य था। उसके स्तन चक्रवाकों की उपमा को धारण करते थे। कटिभाग अतिशय कृश था, नाभि अत्यन्त गहरी थी। दोनों जंघाएँ सुघटित थीं। नितम्ब कुदरू फल से तुलना करते थे। उसके दोनों चरण विशाल उरु सुन्दर जंघा एवं पार्ष्णियों से अतिशय शोभायमान थे।

(हरिवंश पुराण पृष्ठ १७२)

एक वेश्या के चंचल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति

उसके प्रकम्पित कर्ण युगल मानों कामदेव के हिंडोले थे। चंचल उर्मियों से आपूरित नयन कचोले, सुन्दर विर्घले फूल की तरह प्रफुल्लित कपोल बालि, शंख की तरह सुडौल, सुचिक्कण निर्मल कंठ, उसके उरोज शृंगार के के स्तवक थे। मानों पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्व विजय के लिए अमृत कुम्भों की स्थापना की थी। नव यौवन से विहँसती हुई देह वाली, प्रथम प्रेम से उल्लसित रमणी अपने सुकुमार चरणों के आशंक्षित पायल की रुनझुन से दिशाओं को चैतन्य करती हुई मुनि के पास पहुंची। वेश्या ने अपने हाव भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु मुनि का हृदय उस तप्त लोहे की तरह था जो उसकी बात से बिंध न सका।

(मुनि स्थूलभद्र की कथा)

सुदर्शना नाम की पालकी की सुन्दरता का उल्लेख

उस समय वह सुदर्शना आकाश और उत्तम स्त्री के समान जान पड़ती थी। क्योंकि जिस प्रकार आकाश अतिशय चमकीले ताराओं और नक्षत्रों की शोभा से दैदीप्यमान रहता है और उत्तम स्त्री ताराओं के समान चमकीले रत्नों की प्रभा से दैदीप्यमान रहती है उसी प्रकार पालकी भी चौतर्फा जड़े हुए तारों के समान चमकीले रत्नों से दीप्त थी। आकाश चंचल चामरों के समूह के समान हंस-पंक्तियों से दैदीप्यमान एवं उज्वल रहता है और स्त्री चामरों के समूह तथा हंस पंक्ति के समान उत्तम वस्त्रों से उज्ज्वल रहती है, पालकी भी हंस पंक्ति के समान चंचल चमर और उत्तम वस्त्र से मनोहर थी। आकाश सूर्य मंडल के तेज से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करने वाला होता हैं, और स्त्री दर्पण के समान अखंड दीप्ति से युक्त मुख वाली होती है, उसी प्रकार पालकी भी चारों ओर लगे हुए अनेक मणिमयी दर्पणों के प्रकाश से समस्त दिशाओं को प्रकाशमान करती थी। आदि-आदि।

(हरिवंश पुराण पृष्ठ १३०)

इसी प्रकार कई जैन-कथाओं में पशु पक्षियों, सर-सरिताओं ,देवालयों, प्रासादों आदि की सुन्दरता का आकर्षक चित्रण किया गया है।

इस सौन्दर्य-चित्रण के संदर्भ में यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि सुन्दरता को मुखरित करने वाले ये विवरण एक प्राचीन परम्परा पर ही विशेषतः आधारित हैं। वे ही उपमानादि यहाँ पर चर्चित हैं जो प्राचीन कथा काव्यों में अपनाए गए हैं। यत्र-तत्र कुछ नवीन उपमानों एवं कल्पना-प्रसूत मौलिक उद्‌भावनाओं की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है जिससे जैन-कथाकारों का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य अभिव्यंजित होता है।

जैन प्रतिमाओं के बाह्य सौन्दर्य की भूमिका आन्तरिक सुषमा को देखकर अनेक कलाविद एवं विद्वान प्रभावित हुए हैं और उन्होंने मुक्तकंठ से शिल्पी की एवं उसकी छैनी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है:-"मैसूर राज्य के 'हासन' जिला में श्रवण बेल गोला, निर्वाण भूमि न होते हुए भी भगवान गोम्मटेश्वर-बाहुबली की ६० फीट ऊंची भव्य तथा विशाल मूर्ति के कारण अतिशय प्रभावक तथा आकर्षक तीर्थस्थल माना जाता है। दर्शक जब भगवान गोम्मटेश्वर की विशाल मनोज्ञ मूर्ति के समक्ष पहुँच दिगम्बर शान्त जिन मुद्रा का दर्शन करता है तब वह चकित हो सोचता है ! मैं दुःख दावानल से बचकर किस महान् शान्ति स्थल में आ गया हूं। वहाँ आत्मा प्रभु की मुद्रा से बिना वाणी का अवलंबन ले मौनोपदेश ग्रहण करता है। मैसूर राज्य के पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर डा० कृष्णा एम. ए, पी, एच. डी. लिखते हैं शिल्पी ने जैन धर्म के सम्पूर्ण त्याग की भावना अपनी छैनी से इस मूर्ति के अंग-अंग में पूर्णतया भरदी है।

मूर्ति की नग्नता जैनधर्म के सर्वस्व त्याग की भावना का प्रतीक है। एकदम सीधे और उन्नत मस्तक युक्त प्रतिमा का अंग विन्यास आत्म-निग्रह को सूचित करता है। होठों की दयामयी मुद्रा से स्वानुभूत आनन्द और दुःखी दुनिया के साथ सहानुभूति की भावना व्यक्त होती है।[1]

जिस चरम सौन्दर्य की अभिव्यंजना जिन मूर्तियों में हुई है उसी परम पुनीत सुन्दरता की अभिव्यक्ति हमें जैन चित्रकला में प्राप्त होती है। जैन मतानुसार वही कला सौन्दर्य श्रेष्ठ है जो हितकर हो और मानव के विचारों को उदात्त बना सके। जिनालयों की भित्ति पर चित्रित चित्रों में जो अभि-

1. जैन शासन-- ले० श्री सुमेर चंद्र दिवाकर पृष्ठ २५५—५६

व्यंजित मनोरमता है उसमें न उन्माद है और न भौतिक विलासिता की मद-भरी रेखायें हैं। पशु-पक्षियों, नर्त्तकियों एवं घटना विशेष से सम्बद्ध मानवों की भी जो आकृतियाँ यहां विविध रंगों में चित्रित हुई हैं उनका सौन्दर्य जैन-संस्कृति की विशेषता से प्रभावित है। ऐसी चित्रकला की कई कथाओं में चर्चा हुई है। जैन चित्रकला के सम्बन्ध में चित्रकला के मान्य विद्वान श्री एन. सी. मेहता ने जो उद्गार प्रकट किये हैं वे उस पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त होंगे। वे लिखते हैं–जैन चित्रों में एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गतिवेग है, जिससे डॉ॰ आनन्द कुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रों की परम्परा अजंता, ऐलोरा और सितन्नावासल के भित्ति चित्रों की है। समकालीन सभ्यता के अध्ययन के लिए इन चित्रों से बहुत कुछ ज्ञान-वृद्धि होती है। खासकर पोशाक, सामान्य उपयोग में आने वाली चीजें आदि के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं।[1]

इस प्रकार पार्थिव सौन्दर्य को विविध रूपों में चित्रित कर इन कथाकारों ने इसकी निस्सारता को भी प्रमाणित किया तथा मानव को आध्यात्मिक सुख-सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए मोक्ष-मार्ग की ओर उन्मुख बनाया। उसके लिए विशिष्ट कथाओं के अन्तर्गत बारह भावनाओं की सामान्य चर्चा की गई एवं अशुचि अनुप्रेक्षा के माध्यम से शारीरिक ममता को परित्याज्य बनाया।

अशुचि अनुप्रेक्षा का स्वरूप इस प्रकार है—हे आत्मन्! इस शरीर को सुगन्धित करने के उद्देश्य से इस पर जो भी कपूर, अगुरु, चन्दन, व पुष्प वगैरह अत्यन्त सुन्दर व सुगन्धित वस्तु स्थापित की जाती है वही वस्तु इसके सम्बन्ध से अत्यन्त अपवित्र हो जाती है। इसलिए गौर व श्याम आदि शारीरिक वर्णों से ठगाई गई है बुद्धि जिसकी ऐसा तू विष्ठा छिद्रों के बंधन-रूप और स्वभाव से नष्ट होने वाले ऐसे शरीर को किस प्रयोजन से बार-बार पुष्ट करता है। हे आत्मन्! जो तेरा ऐसा केश पाश, जिसकी कान्ति कामदेव रूप राजा के चमर सरीखी श्याम वर्ण थी और जो जीवित अवस्था में कमल सरीखे कोमल करों वाली कमनीय कामिनियों द्वारा चमेली व गुलाब आदि सुगंधित पुष्पों के सुगन्धित तेल आदि से तेरा सम्पान करने वाले कोमल कर कमलों पूर्वक विभूषित किया जाने के फलस्वरूप शोभायमान हो रहा था, वही केश-पाश तेरे काल कलवित हो जाने पर स्मशान भूमि पर पर्वत सम्बन्धी

1. जैन धर्म—ले॰ पं॰ कैलाश चंद्र जी शास्त्री पृष्ठ २७६

कृष्ण काकों के गले में प्राप्त होने वाला हुआ। हे जीव ! दैवयोग से यदि तेरा भीतरी शरीर इस शरीर से बाहर निकल आवे तो उसके अनुभव करने की बात तो दूर रहे परन्तु यदि तू केवल कौतूहल मात्र से उसे देखने का भी उत्साह करने लगे तब कहीं तुझे इस शरीर में सन्मुख होकर राग-बुद्धि करनी चाहिए अन्यथा नहीं। इसलिए हेय व उपादेय के विवेक से विभूषित तत्वज्ञानी पुरुष यमराज की क्रीड़ा करने की ओर अपनी बुद्धि को प्राप्त न करते हुए (मृत्यु होने के पूर्व) स्वाभाविक मलिन इस शरीर से कोई ऐसा अनिर्वचनीय मोक्ष फल प्राप्त करें जिससे कि अनन्त सुख रूप फल की विभूति उत्पन्न होती है।

(यशस्तिलक चम्पू द्वितीय आश्वास पृष्ठ १४८)

जैन-काव्य एवं कथा साहित्य की चरम उपलब्धि अध्यात्मवाद की परिपुष्टि ही है। फलतः रूप-सौन्दर्य की आकर्षक आसक्ति में संलग्न मानव को प्रबुद्ध करके जैन कथाकारों ने एक ओर संसार की क्षणभंगुरता को अभिव्यंजित किया और दूसरी ओर शृंगारिक साहित्य के निःसत्व को भी सशक्त शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया—

कंचन कुम्भन की उपमा,
कहदेत उरोजन को कवि बारे।
ऊपर श्याम बिलोकत् वे मनि,
नीलम की ढकनी ढँकि छारे।
यों सत बैन कहै न कुपंडित,
ये जुग आमिष पिंड उघारे।
साधन झार दई मुँह छार,
भए इह हेत किधों कुच कारे।

जैनशतक ६५

मात पिता रज वीरज सों, उपजी सब सात कुधात भरी है।
माखिन के पर माफिक बाहर, चाम के बेठन बेढ़ धरी है।
नाहिं तो आय लगें अब ही बक, बायस जीव बचें न घरी है।
देह दशा यहि दीखत भ्रात, घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है।

ए विधि तुम तैं भूलि भई,
समझैं न कहाँ कसतूरि बनाई।
दीन कुरंगनि के तन में,
तृण दन्त धरैं करुना किमि काई।
क्यों न करी तिन जीभन जे रस,
काव्य करैं पर को दुखदाई।
साधु अनुग्रह दुर्जन दंड,
दोऊ सधते बिसरी चतुराई।

जैन शतक ६६

जैन कथाओं में न्याय व्यवस्था

इन जैन कथाओं में प्राचीन नरेशों की न्याय व्यवस्था के अनेक आदर्श उपस्थित किये गए हैं। हमने इस तथ्य को कई बार स्वीकार किया है कि हमारा पुरातन युग प्रशस्त था एवं नरपतियों ने जिस आत्मीयता से प्रजा की सुरक्षा की है वह आज भी वरेण्य है। भले ही इन कहानियों में चित्रित राज-व्यवस्था एक तंत्रात्मक रही है फिर भी लोक तंत्रात्मक शासन की कभी भी उपेक्षा नहीं हुई है। नरपतियों ने सदैव प्रजा को अपनी पुत्री के समान माना और उसके सुख-दुःख को अपना ही समझा। वे अपने सर्वस्व को स्वाहा करके जनता को सुखी बनाते थे और कठिन समय में जन-सेवक के रूप में सेवा करने के लिए तत्पर हो जाते थे।

इन नरेशों की न्याय-व्यवस्था सर्व सुलभ थी और पीड़ित कभी भी राज दरबार में उपस्थित होकर अपनी कथा सुना सकता था। अपराधियों की खोज के लिए आवश्यकता पड़ने पर राजा कभी भिक्षुक बनकर तो कभी सामान्य व्यक्तित्व को अपनाकर इधर-उधर भटकने लगता था एवं राजकीय अधिकारियों को अव्यवस्था होने पर दण्ड भोगना पड़ता था। अपराधियों में किसी प्रकार का जाति-गत अथवा वंश-गत विभेद मान्य न था। राज परिवार के सदस्यों को भी राज्य सभा में उपस्थित होकर दण्ड स्वीकार करना पड़ता था। कई कथाएँ ऐसी प्राप्त हैं जो बताती हैं कि राजकुमारों को भी अपराधी सिद्ध होने पर निश्चित व्यवस्थानुसार दंडित किया जाता था और किसी भी

प्रकार की सुविधा से वे लाभान्वित नहीं हो पाते थे। कारागारों में ऐसे अप-राधी राजकुमार साधारण कैदियों के समान रखे जाते थे और उन्हें कई प्रकार से वहां भी दंडित होना पड़ता था।

"न्याय-व्यवस्था चलाने के लिए न्यायाधीश की आवश्यकता होती है। प्राचीन जैन-ग्रन्थों में न्यायाधीश के लिए कारणिक अथवा रूपयक्ष (पालि में रूपदक्ष) शब्द का प्रयोन हुआ है। चोरी, डकैती, परदारा गमन, हत्या और राजा की आज्ञा का उल्लंघन आदि अपराध करने वालों को राज-कुल (राउल) में उपस्थित किया जाता था। कोई मुकद्दमा (व्यवहार) लेकर न्यायलय में जाता, तो उससे तीन बार वही बात पूछी जाती, यदि वह तीनों बार एक ही जैसा उत्तर देता तो उसकी सच्ची बात मान ली जाती थी।

दीघनिकाय की अट्ठ कथा (२, पृ० ५१९) में वैशाली की न्याय व्यवस्था का उल्लेख है। जब वैशाली के शासक वज्जियों के पास अपराधी को उपस्थित किया जाता, तब सबसे पहले उसे विनिश्चय अमात्य के पास भेजा जाता। यदि वह निर्दोष होता तो उसे छोड़ दिया जाता. नहीं तो व्याव-हारिक के पास भेजा जाता। व्यावहारिक उसे सूत्रधार के पास, सूत्रधार अष्टकुल के पास, अष्टकुल सेनापति के पास, सेनापति उपराजा के पास, उप-राजा उसे राजा के पास भेज देता। तत्पश्चात् प्रवेणी पुस्तक के आधार पर उसके लिए दण्ड की व्यवस्था की जाती। न्याय व्यवस्था के कठोर नियम रहते हुए भी न्याय कर्ता राजा बड़े निरंकुश होते और उनके निर्णय निर्दोष न होते। साधारण सा अपराध हो जाने पर भी अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था। अनेक बार तो निरपराधियों को दण्ड दिया जाता और अपराधी छूट जाते थे। जातक (४, पृ० २८) में किसी निरपराध संन्यासी को सूली पर लटकाने का उल्लेख मिलता है। मृच्छकटिक के चारुदत्त को भी बिना अपराध दण्ड दिया गया था।"[1]

चोरी करने पर भयंकर दण्ड दिया जाता था। राजा चोरों को जीते जी लोहे के कुम्भ में बंद कर देते, उनके हाथ कटवा देते और शूली पर चढ़ा देना तो साधारण बात थी। राजकर्मचारी चोरों को वस्त्रयुगल पहनाने, गले में कनेर के पुष्पों की माला डालते और उनके शरीर को तेल से

1. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, ले० डॉ० जगदीशचन्द्र जैन पृष्ट ६४–६५

सिक्तकर उस पर भस्म लगाते। फिर उन्हें नगर के चौराहों पर घुमाया जाता, घूँसों, लातों, डण्डों और कोड़ों से पीटा जाता, उनके ओंठ, नाक, और कान काट लिए जाते थे, रक्त से लिप्त मांस को उनके मुँह में डाला जाता और फिर खण्ड-परह से अपराधों की घोषणा की जाती।

इसके सिवाय लोहे या लकड़ी में अपराधियों के हाथ पैर बाँध दिये जाते थे। खोड़ में पैर बाँध कर ताला लगा दिया जाता। हाथ, पैर जीभ सिर गले की घण्टी अथवा उदर को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता, कलेजा, आँख, दाँत और अण्डकोष आदि मर्म स्थानों को खींचकर निकाल लिया जाता। शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये जाते, रस्सी में बाँध कर गड्ढे में और हाथ बाँधकर वृक्ष की शाखा में लटका देते थे। स्त्रियाँ भी दण्ड की भागी होती थीं, यद्यपि गर्भवती स्त्रियों को क्षमा कर दिया जाता। चोरों की भाँति दुराचारियों को भी शिरोमुंडन, तर्जन, ताडन, लिंगच्छेदन, निर्वासन, और मृत्यु आदि दण्ड दिये जाते थे।

चोरी और व्यभिचार की हत्या भी महान् अपराध गिना जाता था। हत्या करने वाले अर्थदिण्ड और मृत्युदण्ड के भागी होते थे।''[1]

''आदि पुराण स्वयं एक कथाग्रन्थ है। इनमें एक ओर शासन-प्रणाली का विशद् विवरण दिया गया है तथा दूसरी ओर शासन-पद्धति को कार्यान्वित करने के हेतु दण्ड-व्यवस्था का भी उल्लेख किया गया है। दण्डाधिकारी की उस संदर्भ में उपयोगिता बताते हुए ग्रन्थकार ने उसकी योग्यताओं की भी चर्चा की है। ''दण्डाधिकारी का दूसरा नाम धर्माधिकारी भी है। आदि-पुराण में उसको अधिकृत या अधिकारी शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। दण्डाधिकारी राष्ट्र में न्याय पूर्वक प्रत्येक कार्य का निर्णय करता और उस निर्णय के अनुसार लोगों को चलने के लिए बाध्य करता था। प्रशासन सम्बन्धी कार्य की देख रेख इसी के द्वारा सम्पन्न होती थी। यह पक्षपात रहित न्याय करता था। राग-द्वेष शून्य, लोभ-मोह आदि दुर्गुणों से रहित होता था। किसी भी प्रकार के प्रलोभन इसे अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सकते थे। न्याय करने में यह अपने सहयोगियों से भी सलाह लेता था। अपराधों की छानबीन करना और निष्पक्ष रूप से अपराध का दण्ड देने की घोषणा दण्डाधिकारी का कार्य था।''[2]

---

1. जैनागम साहित्य में भारतीय समाज-ले डॉ० जैन पृष्ठ ८१—८३।
2. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत-ले० डॉ० नेमिचन्द्र जैन पृष्ठ ३५४।

समाज सुरक्षित रहे एवं उसे दुष्ट पुरुष पीड़ित न कर सकें, इसके लिए राजा स्वयं सजग रहता था और निशा में भ्रमण कर प्रजा को आतंकित होने से बचाता था। कई कथाएँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जो यह प्रमाणित करती हैं कि रानी राजदरबार में नृपति के साथ सिंहासन पर बैठकर न्याय करने में पर्याप्त सहायता देती थी और कभी-कभी अपराध की खोज के लिए विभिन्न साधनों को अपनाया करती थी। पंचायतों के माध्यम से भी न्याय किया जाता था एवं ग्राम का मुखिया और पंचादि मिलकर पीड़ितों एवं संतप्तों की रक्षार्थ अपराधियों को दण्डित कर आदर्श न्याय को उदाहरण के रूप में स्थापित करते थे।

"शासन-व्यवस्था के लिए दण्ड परमावश्यक माना गया है। यदि अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ती जायगी। एवं राष्ट्र की रक्षा बुराइयों से न हो सकेगी। अपराधी को दण्ड देकर शासन व्यवस्था को चरितार्थ किया जाता है। भोगभूमि के बाद हा, मा, धिक के रूप में दण्ड व्यवस्था प्रचलित थी, पर जैसे-जैसे अपराध करने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी वैसे-वैसे-दण्ड व्यवस्था भी उत्तरोत्तर कड़ी होती गयी। आदिपुराण द्वारा भारत में तीन प्रकार के दण्ड प्रचलित थे जो अपराध के अनुसार दिये जाते थे—

(१) अर्थहरण दण्ड।
(२) शारीरिक क्लेश रूप दण्ड।
(३) प्राणहरण रूप दण्ड,

शासन तंत्र को सुव्यवस्थित करने के लिए पुलिस का भी प्रबंध था। पुलिस के वरिष्ठ अधिकारी को तलवर कहा गया है, चोर, डकैत, एवं इसी प्रकार के अन्य अपराधियों को पकड़ने के लिए आरक्षी नियुक्त रहते थे। तलवर का पर्यायवाची आरक्षण भी आया है। पुलिस अपराधी को पकड़ कर निम्नलिखित चार प्रकार के दण्ड देती थी।

(१) मृत्तिका भक्षण।
(२) विष्टा भक्षण।
(३) मल्लों द्वारा मुक्के।
(४) सर्वस्व हरण।

घूसखोरों को भयावह दण्ड दिये जाते थे।" [1]

---

1. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृष्ठ ३६१–६२

यहाँ न्याय-व्यवस्था से सम्बद्ध कुछ कथाओं के विशिष्ट अंशों का उल्लेख उदाहरणों के रूप में किया जाता है जो उक्त कथन की परिपुष्टि में पर्याप्त हैं।

(१)

धर्माधिकारियों ने आपस में सलाह कर कहा—'महाराज, श्रीभूति पुरोहित का अपराध बड़ा भारी है। इसके लिए हम तीन प्रकार की सजायें नियत करते हैं। उनमें से फिर जिसे यह पसन्द करे, स्वीकार करे। या तो इसका सर्वस्व हरण कर लिया जाकर इसे देश बाहर कर दिया जाय, या पहलवानों की बत्तीस मुक्कियाँ इस पर पड़ें या तीन थाली में भरे हुए गोबर को यह खा जाय। श्रीभूति से सजा पसन्द करने को कहा गया। पहले उसने गोबर खाना चाहा पर खाया नहीं गया। तब मुक्कियाँ खाने को कहा। मुक्कियाँ पड़ना शुरु हुई। कोई दस-पन्द्रह मुक्कियाँ पड़ी होंगी कि पुरोहित जी की अकल ठिकाने आ गई। आप एकदम चक्कर खाकर जमीन पर ऐसे गिरे कि पीछे उठे ही नहीं। वे दुर्गति में गए। धन में अत्यन्त लम्पटता का उन्हें उपयुक्त प्रायश्चित मिला।' श्री भूति पुरोहित की कथा—आराधना कथाकोश दूसरा भाग पृष्ठ ३४। (श्री भूति पुरोहित को उक्त दण्ड समुद्रदत्त के बहुमूल्य पाँच रत्न हड़प करने के अपराध में दिया गया था।)

(२)

'इसी देश के हस्तिनापुर में एक धनदत्त नाम का वैश्य रहता था। उसकी धनमती स्त्री से उग्रसेन नाम का पुत्र था। वह एक दिन चोरी करते पकड़ा गया। कोतवाल ने उसकी लात घूँसे और मुक्कों से खबर ली। विकट पिटाई के कारण उग्रसेन मर गया और वह व्याघ्र हुआ।'

(राजा वज्रजंघ की कथा, पुण्याश्रव कथाकोश पृष्ठ ३१९)

(३)

"किसी ने कहा—श्री गुणसागर मुनि एक महीने का उपवास कर पारणा के लिए नगर में गये थे। गंगदत्त सेठ की स्त्री सिंधुमती ने उन्हें घोड़े के लिए रखी हुई कड़वी तुंबी का आहार दे दिया, जिससे उनका शरीर छूट गया। राजा के साथ गंगदत्त सेठ भी था, उसे यह सुनकर बड़ा खेद और वैराग्य हुआ। अतः तत्काल ही उसने भोगों से उदास होकर जिनदीक्षा ले ली और राजा ने क्रोधित होकर सिंधुमती को उसकी नाक, कान, कटवाकर और गधे पर चढ़ाकर अपने शहर से निकलवा दिया। सिंधुमती को कुछ समय

के बाद कुष्ठ रोग हो गया, जिससे उसका शरीर गल गया। अन्त में मर कर वह छठे नरक में गई।"

(पूतिगंध और दुर्गंधा की कथा, पुण्याश्रव कथाकोश, पृष्ठ २५५)

(४)

"उसी नगर में एक और सुमित्र नाम का वणिक् रहता था। उसकी स्त्री वसुकान्ता से एक श्रीषेण पुत्र था। जो रात दिन सातों व्यसनों में लीन रहता था। एक दिन उसे कोतवाल ने चोरी करते हुए पकड़ लिया। इस अपराध में राजा ने उसे शूली की आज्ञा दे दी।"

(पूतिगंध और दुर्गंधा की कथा—पुण्याश्रव कथाकोश पृष्ठ २५३)

(५)

नागश्री ने उसकी यह दशा देखकर सोमशर्मा से पूछा—"पिताजी बेचारा यह पुरुष इस प्रकार निर्दयता से क्यों मारा जा रहा है?" सोमशर्मा बोला—"बच्ची, इस पर एक बनिए के लड़के वरसेन का कुछ रुपया लेना था। उसने इससे अपने रुपयों का तकादा किया। इस पापी ने उसे रुपया न देकर जान से मार डाला। इसलिए उस अपराध के बदले अपने राजा ने इसे प्राण दंड की सजा दी है।"

(सुकुमाल मुनि की कथा—आराधना कथाकोश भाग २ पृष्ठ २१८)

(६)

राजा ने चण्डकीर्ति नाम के अपने कोतवाल को बुलाकर कहा—"थैली के चुराने वाले मनुष्य को ला वरना तेरा सिर कटवा दिया जायेगा।' कोटवाल पांच दिन के अंदर चोर को पेश करने का वायदा कर चारों को साथ ले अपने घर गया और उदास हो पलंग पर लेट गया।

(सूर्य मित्र और चाण्डाल पुत्री की कथा—पुण्याश्रव कथाकोश पृष्ठ १४२)

(७)

थोड़ी दूर जाने पर उन्होंने एक स्त्री देखी, जिसकी नाक कटी हुई थी और पुरुष की चोटी से उसका गला बँधा हुआ था। नागश्री ने पूछा—"पिताजी, इसकी ऐसी दशा क्यों हुई?" नागशर्मा बोला—'इसी नगरी में मात्स्य नाम के सेठ की जैनी नाम की स्त्री है। उसके गर्भ से नन्द और सुनन्द नाम के दो पुत्र हुए थे। नन्द जब व्यापार करने विदेश जाने लगा, तब उसने मामा सूरसेन से कहा—मामा, मैं द्वीपान्तरों में जाता हूं। जब तक मैं न आऊँ अपनी पुत्री मदाली का व्याह किसी से न करना, मुझ से ही करना।"

सूरसेन ने कहा–'मैं तुमको ही अपनी पुत्री दूंगा मगर तुम अवधि नियत करके जाओ।' मदाली कुंआरी रहकर ही अपनी जवानी के दिन काटने लगी उसके मकान के पास ही एक बारह करोड़ की सम्पत्ति का स्वामी नागचन्द्र नाम का वणिक् रहता था। उसके बारह स्त्रियाँ थी। मदाली और उसका परस्पर प्रेम हो गया, और दोनों आनंद से काम सेवन करने लगे। कोतवाल को इनका हाल मालूम हो गया, एक दिन कोतवाल ने किसी तरह इनको एक साथ पकड़ लिया और दोनों को राजा के सामने पेश किया। राजा ने इनके लिए जो आज्ञा दी उसी के अनुसार ये दण्ड भोग रहे हैं।

(सूर्य मित्र और चांडाल पुत्री की कथा–पुण्याश्रव कथाकोश पृष्ठ १४६)

(८)

एक दिन राजा श्रेणिक के सामने एक झगड़ा उपस्थित हुआ, जिसका सारांश यह है कि—उसी राजगृह नगर में समुद्रदत्त सेठ के वसुदत्ता और वसुमित्रा नाम की दो स्त्रियाँ थी जिनमें से छोटी वसुमित्रा के एक पुत्र था। वह पुत्र दोनों को इतना प्यारा था कि दोनों ही उसका लालन-पालन करतीं और दूध पिलाया करती थीं। कुछ दिनों के पीछे सेठ के मरने पर उन दोनों में 'यह मेरा पुत्र है' इस प्रकार कह कर झगड़ा शुरु हुआ और वह यहाँ तक बढ़ा कि वे दोनों राजा के पास पहुँची। परन्तु राजा अनेक प्रयत्न करने पर भी फैसला न कर सका। तब अभय कुमार के पास वह झगड़ा आया और उसने अनेक उपायों से उसका असली तत्व समझना चाहा, परन्तु जब कुछ लाभ नहीं हुआ अब अन्त में अभयकुमार ने एक प्रयत्न किया। वह यह है कि उस बालक को धरती पर लिटाकर एक छुरी निकाली और उसे यह कहकर मारने को तत्पर हुआ कि अब इन दोनों माताओं को इसके दो टुकड़े करके एक-एक सोंप देता हूँ। इसके बिना यह झगड़ा नहीं मिट सकता। यह सुनते ही जो उस बालक की असली माता थी, उसने पुकार कर और रोकर कहा–'महाराज ! मुझे यह पुत्र नहीं चाहिये। इसी को (दूसरी को) सौंप दीजिए। मैं उसके पास ही इसे देख-देख कर जीऊँगी, परन्तु कृपा करके वध न कीजिए।" इस सच्चे पुत्र स्नेह से अभयकुमार ने तुरन्त जान लिया कि यही इसकी यथार्थ माता है अतएव उसी समय वह पुत्र उसे सौंप दिया गया।

(राजा श्रेणिक की कथा, पुण्याश्रव कथाकोश पृष्ठ ४७)

सन्दर्भ-ग्रन्थ-तालिका

१. हरिवंशपुराण
२. महावीर-पुराण
३. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ
४. श्री मरुधर केशरी मुनि श्री मिश्रीलाल जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ
५. पुण्यास्रव कथाकोष
६. श्री मद् विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ
७. हिन्दी साहित्य कोष भाग १
८. सम्मेलन पत्रिका (लोक-सांस्कृति अंक)
९. जैनधर्म (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)
१०. गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ
११. आजकल (लोक-कथा अंक)
१२. हरियाणा प्रदेश का लोक-साहित्य–डॉ० शंकरलाल यादव
१३. आराधना कथा कोष भाग १, २, ३, ४,
१४. वृहत्कथा कोश
१५. खड़ी बोली का लोक-साहित्य–डॉ. सत्या गुप्ता
१६. लोक-साहित्य-विज्ञान–डॉ० सत्येन्द्र
१७. जैन रामायण
१८. भारतीय कथाएँ भाग १. २.–डॉ० जगदीश चन्द्र जैन
१९. जैनागम में भारतीय समाज–डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
२०. दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ–डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
२१. रमणी के रूप–डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
२२. धम्मपद
२३. महाभारत
२४. नाया धम्म कहा
२५. शुक सप्तति

२६. कथासरित्सागर
२७. पंचतंत्र
२८. बैताल पंचविंशतिका
२९. बृहत्कल्प सूत्र
३०. श्री चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ
३१. हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण–डॉ० खण्डेलवाल
३२. लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु–डॉ० सहल
३३. भक्तामर स्तोत्र की कथाएँ
३४. सुगंध दशमी कथा (संपादक डॉ० हीरालाल जैन)
३५. समराच्च कहा
३६. उवासगदसाओ
३७. उपदेशमाला भाषांतर
३८. जैन-शतक–कवि भूदरदास
३९. जैन-साहित्य और इतिहास–पं. नाथूराम प्रेमी
४०. आदिनाथ पुराण में प्रतिपादित भारत–डॉ० नेमिचन्द जैन
४१. जैन-साहित्य का वृहत इतिहास भाग ४–डॉ० मेहनलाल महता
४२. रासो में कथानक रूढियाँ–डॉ० बृजविलास श्रीवास्तव
४३. हिस्ट्री आव इण्डियन लिट्रेचर भाग–३ विण्टरनीज
४४. बिहारी रत्नाकर
४५. विद्यापति
४६. श्री सम्पूर्णानन्द अभिनंदन ग्रन्थ
४७. काव्य दर्पण–पं. रामदहिन मिश्र
४८, यशस्तिलक चम्पू–श्री सोमदेवसूरि
४९. अरेबियन नाइट्स
५०. पद्मचरित्रं–श्री विमल सूरि
५१. कथाकोष–श्री हरिषेण